ओ३म्
गौरव
आचार्य ब्र. नन्द किशोर

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्-भद्रं तन्न-आसुव

ब्रह्म-यज्ञ

देव-यज्ञ

पितृयज्ञ

अतिथि-यज्ञ

बलिवैश्वदेव यज्ञ

ओ३म्

गुरु-गौरव

आचार्य ब्र० नन्दकिशोर

प्रकाशक :
श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी-३२२ २३० (राज०)

प्रकाशक : श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी, (राज०)-३२२ २३०
दूरभाष : ०७४६९-२३४६२४,
चलभाष : ०-९४१४०-३४०७२

संस्करण : स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती एवं प्रा० राजेन्द्र 'जिज्ञासु' अमृत-महोत्सव, सन् २००६

मूल्य : १५.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान : १. टङ्कारा साहित्य सदन
आर्यसमाज,हिण्डौन सिटी, (राज०)
२. श्री हरिकिशन ओम्प्रकाश
३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस,
दिल्ली-११०००६, दूरभाष : २३९५८८६४
३. श्रेष्ठ साहित्य सदन, सैंती, चित्तौड़गढ़ (राज०)
शाखा-पहुँना, जिला-चित्तौड़गढ़ (राज०)
दूरभाष : ०१४७१-२२२०६४
४. डॉ० अशोक आर्य, ११६, मित्र विहार,
मण्डी डबवाली, जिला—सिरसा (हरियाणा)
५. श्री गणेशदास-गरिमा गोयल,
२७०४, प्रेम-मणि निवास, नया बाजार, दिल्ली-६
दूरभाष : ०११-६५३७९०७०
६. श्री दयाराम पोद्दार
झारखण्ड राज्य आर्य प्रतिनिधि सभा,
आर्यसमाज मन्दिर, स्वामी श्रद्धानन्द पथ,
राँची (झारखण्ड)-८३४ ००१
७. श्री राजेन्द्र कुमार
१८, विक्रमादित्य पुरी, स्टेट बैंक कालोनी,
बरेली (उ०प्र०) दूरभाष : ०५८१-२५४३९४४

शब्द-संयोजन : भगवती लेज़र प्रिंट्स, नई दिल्ली-६५

मुद्रक : राधा प्रेस, कैलाशनगर, दिल्ली-११००३१

दो शब्द

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

—योग॰ समाधिपाद २६

वह ईश्वर गुरुओं का गुरु है, वह कालकलवित नहीं होता।

सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ने अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान दिया।

ब्रह्मा से लेकर जैमिनि-पर्यन्त ऋषि-मुनि वैदिक धर्म का प्रचार-प्रसार करते रहे।

महाभारत के पश्चात् ऋषियों और गुरुओं की टूटी हुई परम्परा को महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जोड़ा। उन्होंने पुनः वेदज्ञान की ज्योति जलाई।

'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है'—ऐसा कहकर वेद पढ़ाया। पुनः गुरुकुल खोलकर गुरु-शिष्य का सम्बन्ध स्थापित किया और जगद्गुरु कहलाये।

आर्ष शिक्षा-पद्धति में गुरु तथा शिष्य का वैसा ही सम्बन्ध रहता है जैसाकि गर्भस्थ बालक का माता के साथ। जैसे माता के गर्भ में बालक का पालन-पोषण होता है वैसे ही आचार्यकुल या गुरुकुल में ब्रह्मचारी का निर्माण होता है। उपनयन से समावर्तन तक ब्रह्मचारी गुरु के कुल में रहता है।

आचार्य ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार करके उसे गर्भ अर्थात् गुरुकुल में प्रविष्ट करता है।

वह बालक को तबतक उदर (गुरुकुल) में ही रखता है, जबतक उसकी तीन अज्ञानरूपी रात्रियाँ समाप्त नहीं हो जातीं। तीन रात्रियों से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक अज्ञान, अथवा पृथिवी, द्यौ और अन्तरिक्ष सम्बन्धी अज्ञान का ग्रहण समझना चाहिए। अथवा निकृष्ट, मध्यम और उत्तम तीन प्रकार का ब्रह्मचर्य जबतक पूर्ण न हो तबतक गुरुकुल में रक्खा जाता है, इसके उपरान्त जब ब्रह्मचारी स्नातक बनता है तब उसे विद्वान् लोग देखने के लिये आते हैं। अषाढ़ मास की समाप्ति और श्रावण मास के प्रारम्भ की

सन्धि को आषाढ़ी पूर्णिमा या व्यास–पूर्णिमा अथवा गुरु–पूर्णिमा कहते हैं। इस दिन गुरु की पूजा–सत्कार विशेष रूप से की जाती है, इसलिए इसे 'गुरु–पूजा' दिवस के रूप में भी जाना जाता है। प्राचीन काल में विद्यार्थियों से शुल्क नहीं लिया जाता था, अतः वे वर्ष में इसी दिन गुरु की पूजा करके अपने सामर्थ्य के अनुसार उन्हें दक्षिणा दिया करते थे।

महाभारत काल से पूर्व यह प्रथा प्रचलित थी, लेकिन धीरे–धीरे गुरु–शिष्य सम्बन्धों में परिवर्तन आया है।

पुराकाल अर्थात् उपनिषत्काल में शिष्य जिज्ञासु बनकर आध्यात्म पिपासा की शान्तिहेतु गुरु के पास आया करते थे। चरित्र–निर्माण गुरु से गुरुकुल में ही 'अन्तेवासी' बनकर सम्भव है।

गुरु शब्द व्यापक और सार्वभौम है, भारत में 'गुरुजी' शब्द अपने गुरु के प्रति आदर–सम्मान का सूचक है।

रामायण और महाभारत काल के गुरु वसिष्ठ, गुरु विश्वामित्र, गुरु द्रोणाचार्य और गुरु सन्दिपनि जगद्विख्यात हैं। बौद्ध और जैन मत के लोग भी गुरु और शिष्य के सम्बन्ध को अटूट मानते हैं।

वेदमत की स्थापना हेतु आचार्य शङ्कर ने बौद्ध और जैनियों से शास्त्रार्थ किया और जगद्गुरु शङ्कराचार्य कहलाये। मराठावाड़ा (महाराष्ट्र) प्रान्त में परम्परा से ही बच्चा–बच्चा स्कूल–कॉलेज का कितना ही बड़ा अध्यापक या प्रोफेसर हो, सबको 'गुरुजी' कहकर सम्बोधित करते हैं। स्कूल–कॉलेजों या सार्वजनिक स्थानों पर उपदेश देनेवाले आगन्तुक महानुभावों को गुरु मानकर सर्वप्रथम नारियल भेंट करके श्रद्धा से नतमस्तक होकर सम्मान प्रदर्शित करते हैं। क्षत्रपति शिवाजी की अपने समर्थ गुरु रामदास के प्रति समपर्ण की भावना सभी को विदित है।

पंजाब की धरती पर गुरुनानक और गुरु गोविदन्दसिंह का प्रादुर्भाव हुआ, इन्होंने सिखमत की स्थापना की, सिख उसे कहते हैं जो सीखता है, संस्कृत का शिष्य अपभ्रंश में 'सिख' हो गया है, बहुत–से गुरुओं की वाणी होने से गुरु ग्रन्थसाहब नाम पड़ गया है, सिख लोग अपने घर–घर में और गुरुद्वारों में श्रद्धा से इसका पाठ करते हैं।

सुखमनि नामक ग्रन्थ में गुरुनानकजी लिखते हैं—

एक ओंकार, सत्यनाम कर्तापुरुष निर्भौ
निर्वैर अकालमूर्त अजोनि सहभं गुरु प्रसादि।

उस ईश्वर का नाम एक ओंकार सत्यनाम है, वह गुरु की कृपा से प्राप्त किया जात सकता है।

विश्नोई मत के संस्थापक गुरु जम्भेश्वरजी हैं—इनके अनुयायी हरियाणा और राजस्थान के कुछ भागों में हैं। ये गाय के घी से यज्ञ करते हैं और हिरन से बहुत प्यार करते हैं, हिरन का शिकार करनेवाले को जान से मार देते हैं, अपने गुरु जम्भेश्वर को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं।

उत्तर-भारत के लोग तुलसी रामायण को घर-घर में रखकर उसका पाठ करते हैं, उनकी रामायण के प्रति अगाध श्रद्धा है, रामायण की चौपाइयों को गा-गाकर माता-पिता और गुरु को सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं—

प्रातःकाल उठि के रघुनाथा
माता-पिता गुरु नावहिं माथा।

मठ, आश्रम, मन्दिरों में भी गुरु शब्द प्रचलित है। किसी कवि ने कहा है—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागू पाय।
बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय॥

इस दोहे में गुरु को बड़ा माना गया, जिसने गोविन्द अर्थात् ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग दर्शाया।

"गुरुचरण सरोज-रज निज मन-मुकुट सुधार" इस दोहे पर मोरारी बाबू का दो-तीन घण्टे का प्रवचन कैसेट पर अङ्कित है। भारतवर्ष के समस्त आर्ष गुरुकुल गुरुओं के प्रति श्रद्धा का उपदेश करनेवाले हैं।

कौन नहीं जानता कि बौद्ध काल में तक्षशिला विश्वविद्यालय और नालन्दा विश्वविद्यालय गुरु और शिष्य परम्परा का विशेषरूप से केन्द्र रहा है। भूतपूर्व राष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णजी के प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिए प्रत्येक वर्ष ५ सितम्बर को शिक्षक दिवस के रूप में भारत सरकार अवकाश घोषित करती है।

"गुरु-गौरव" पुस्तक लिखने में मैंने सैकड़ों पुस्तकों का

अध्ययन किया। पुस्तक को रोचक बनाने के लिये पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार द्वारा रचित संस्कार-चन्द्रिका और पं० दामोदर सातवलेकर द्वारा महाभारत पुस्तक से काफी सहायता मिली है, स्वामी सदानन्द मीमांसक गुरुकुल होशंगाबाद का अत्यन्त आभार प्रकट करता हूँ, इन्होंने महाभारत और स्मृति आदि ग्रन्थों के प्रमाण ढूँढकर सहयोग किया है। आशा है "गौरव-ग्रन्थमाला" में 'गुरु-गौरव' पुस्तक को पाठकगण अपने हृदय में स्थान देकर कृतार्थ करेंगे। मैं 'मुनिवर गुरुदत्त संस्थान' हिण्डौन सिटी राजस्थान का भी धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने पुस्तक का मुद्रण कराके पाठकों के हाथ में पहुँचाया है।

विदुषामनुचरः

आचार्य नन्दकिशोर

(हरिद्वार)

प्रकाशकीय

गरिमामय जीवन का स्वामी ही गुरु है। जिसके मन, वचन और कर्म में एकरूपता है। जिसके सान्निध्य में शिष्य पुस्तकीय ज्ञान के साथ व्यावहारिक जीवन की आदर्श शिक्षा ग्रहण कर निहाल हो जाता है। जो पात्रानुसार बिना भेदभाव के शिक्षा प्रदान करे और अपात्र को भी सुपात्र बनाने का भरसक यत्न करे। शिक्षार्थी ही किसी समाज और राष्ट्र की रीढ़ तथा भविष्य होते हैं। यही भूतकाल की न्यूनताओं और निराशाओं के मध्य सुखद, सम्पन्न और धर्मयुक्त जीवन का निर्माण करते हैं। व्यक्ति, परिवार, समाज व राष्ट्र का निर्माता, दिशादाता गुरु ही होता है।

गुरु की स्नेहिल, आत्मीय गुहा में जहाँ समाज और राष्ट्र का सुसंस्कारित निर्माण हो रहा होता है वहाँ उसके भौतिक साधनों की सुसम्पन्नता का ध्यान और उसकी पूर्ति समाज तथा राज्य की ओर से भलीभाँति होनी चाहिए, जिससे उद्देश्य के प्रति तन्मयता में विघ्न नहीं हो, क्योंकि मात्र आदर्श के सहारे जीवन सम्भव नहीं है।

इसके अतिरिक्त जीवन में कहीं–न–कहीं कोई गुरु की भूमिका पूरी कर रहा होता है। जो दिशा दे वह गुरु ही तो है। माता–पिता, शिक्षक, मित्र, उपदेशक, परिजन सभी गुरु हो सकते हैं। समाज और राष्ट्र की आवश्यकतानुसार दिशा प्रदान करना जहाँ सही दिशा में सही कार्य है वहीं पुनीत तथा दिशा देनेवाले के जीवन की सार्थकता भी है। मनुष्य समाज की धरोहर है, इसलिए वह प्रत्येक के हितचिन्तक की भूमिका का श्रेष्ठ पात्र है।

प्रस्तुत पुस्तक इस दिशा में लेखक का स्तुत्य प्रयास है। आशा है न्यास के दिशायुक्त प्रकाशन में यह एक और सफल प्रयास होगा। स्वामी श्री जगदीश्वरानन्दजी के स्नेहिल सहयोग ने इसे और सुरुचिपूर्ण बना दिया है। आप सभी के सहयोग की कामना सहित—

—प्रभाकरदेव आर्य

पहला गुरु

पशु–पक्षी, कीट–पतंग तो अपने स्वाभाविक ज्ञान के अनुसार व्यवहार में प्रवृत्त हुए। मानव का विवेक बिना ज्ञान–प्रकाश के बेकार रहा। जिस प्रकार बिना प्रकाश के आँख बेकार हो जाती है, इसलिए परम दयालु भगवान् पहले गुरु बने और सबसे पहले शुद्ध, पवित्रात्मा अग्नि में ऋग्वेद का, पवित्रात्मा वायु के अन्तःकरण में यजुर्वेद का, पवित्रात्मा आदित्य ऋषि के अन्तःकरण में सामवेद का और अङ्गिरा के मन में अथर्ववेद का प्रकाश किया। जिस प्रकार आत्मा मन को प्रेरणा देता है, उसी प्रकार सर्वज्ञ, सर्वव्यापक परब्रह्म ने ऋषियों पर वेदों का प्रकाश किया।

उस परम गुरु से वेदों का ज्ञान पाकर चारों ऋषि निहाल हो गये और इस संसार को भी इस कल्प के लिये निहाल कर दिया। इन ऋषियों ने वेदों का उपदेश वेदों का साक्षात् न करनेवाले अन्यों को किया। उन्होंने अपने से आगेवाली पीढ़ी को सुनाया। इस प्रकार इनका नाम सुने जाने के कारण श्रुति पड़ गया।

स्वामी सच्चिदानन्द योगी
योगधाम ज्वालापुर

ओ३म्

गुरु-शिष्य का परिचय (स्वरूप)

महर्षि दयानन्द रचित संस्कार-विधि में उपनयन-संस्कार में गुरु-शिष्य का एक संवाद है।

गुरु पूछता है—को नामासि—तेरा नाम क्या है?

शिष्य कहता है—असावहम्भोः—मेरा नाम यह है।

गुरु—कस्य ब्रह्मचार्यसि—तू किसका ब्रह्मचारी है?

शिष्य—भवतः—आपका।

गुरु—इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव।

तू ईश्वर का ब्रह्मचारी है। वस्तुतः ईश्वर ही तेरा आचार्य है। मैं तो उसकी ओर से तेरा आचार्य हूँ।

इससे प्रकट होता है कि आचार्य शिष्य से कहता है कि ईश्वर की आज्ञानुसार जो कुछ विद्या मुझे आती है मैं तुझे दूँगा।

वस्तुतः ईश्वर ही तेरा गुरु है, मैं केवल साधनमात्र हूँ। शिष्य आचार्य की आज्ञा के अनुकूल आचरण करना स्वीकार करता है।

यह प्राचीन परिचय-प्रणाली कैसी अद्भुत थी।

ब्रह्मचारी-शिष्य का उपनयन

'उपनयन' का शब्दार्थ है—उप=समीप, नयन=ले-जाना।

विद्याध्ययन के लिये शिष्य को गुरु या आचार्य के समीप ले-जाने को उपनयन कहा जाता है।

वेद और मनुस्मृति का अनुकरण करते हुए याज्ञवल्क्य स्मृति में गुरु के द्वारा शिष्य के उपनयन करने का वर्णन किया गया है—

उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति-आचाराध्यायः १५)

अर्थ—गुरु शिष्य का उपनयन संस्कार करके उसे महाव्याहृतियों के साथ वेद पढ़ावे और उसे शौच तथा आचारों की शिक्षा भली-भाँति देवे॥

शंखस्मृति में भी कहा है—

स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति।
उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च।
भृतकाध्यापको यस्तु उपाध्यायः स उच्यते॥ ९॥
(शंखस्मृति ब्रह्मचर्याचाचारवर्णनम्)

वही गुरु होता है जो क्रिया करके ब्रह्मचारी को वेद का ज्ञान प्रदान करता है। गुरु शिष्य का उपनयन संस्कार कराके सर्वप्रथम शुद्धि की शिक्षा देवे तत्पश्चात् आचार, अग्निकार्य और सन्ध्योपासना की शिक्षा देवे। जो वेतन लेकर अध्यापन का कार्य करता है वह भृतकाध्यापक उपाध्याय कहा जाता है।

उपनयन की आयु

उपनयन संस्कार में मुख्य कर्म यज्ञोपवीत का धारण करना है। यज्ञोपवीत का धारण करना गृह्यसूत्रों के अनुसार ब्राह्मण-बालक का आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का ग्यारहवें तथा वैश्य का बारहवें वर्ष में—**अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्, एकादशे क्षत्रियम्, द्वादशे वैश्यम्**—यह विधान है। जिसका इन वर्षों में उपनयन संस्कार नहीं होता था उसे 'सावित्री-पतित' माना जाता था

इससे यह स्पष्ट है कि जो लोग सन्तान को सुसंस्कृत तथा गुणवान् बनाना चाहते हैं उनकी सन्तान का उपनयन जल्दी-से-जल्दी हो जाना चाहिए। तभी मनु ने उपनयन का समय गृह्यसूत्रों के निर्दिष्ट समय से भी पहले निश्चय किया है। मनुस्मृति (२.३७) में लिखा है।

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥

ऋषि दयानन्द मनुस्मृति का उक्त उद्धरण देकर लिखते हैं कि जिनको शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हो, तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म या गर्भ से पाँचवें, क्षत्रिय के लड़के का जन्म या गर्भ से छठे और वैश्य बालक का आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें। यज्ञोपवीत या उपनयन-संस्कार का इतना महत्त्व है कि जिनका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता उनका विवाह से पहले नाममात्र का यज्ञोपवीत संस्कार कर दिया जाता है ताकि यह न कहा जा सके कि इनका यह संस्कार नहीं हुआ।

'द्विज' का अर्थ

उपनयन के बाद बालक 'द्विज' कहलाता है। 'द्विज' का अर्थ है—जिसका दूसरा जन्म हो। माता-पिता से तो पहला जन्म होता है; परन्तु इस जन्म के बाद जब बालक संस्कृति की भट्टी में पड़कर नवीन-मानव होने की प्रक्रिया में पड़ जाता है, तब उसे बालक का दूसरा जन्म कहा जाता है, वह दूसरा जन्म गुरु के यहाँ होगा। द्विज के विषय में कहा गया है।

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।

(ब्रज० उप० अत्रि सं० १४२)

जन्म से तो सभी शूद्र पैदा होते हैं, संस्कारों से ही मनुष्य 'द्विज' बनता है। संस्कारों के बिना मनुष्य-मनुष्य नहीं बन सकता। क्या हम देखते नहीं कि आयुर्वेद में संख्या जैसे विष को संस्कारों की भावना देकर अमृत तुल्य बना दिया जाता है। जङ्गली खूँखार शेर को संस्कारों द्वारा बकरी के साथ एक घाट पानी पिला दिया जाता है। उपनयन-संस्कार का अभिप्राय यह है कि अबतक माता-पिता अपने परिश्रम से बालक के जीवन पर ऐसे संस्कार डाल रहे थे जिनसे वह इस जन्म के संस्कारों के कारण नव-मानव बने सके, अब वे उसे आचार्य के पास लाने का श्रीगणेश करनेवाले हैं। जिससे गुरु जिसका काम ही बच्चों को नया जीवन देना है, उन्हें नये साँचे में ढ़ालना है, बच्चे के जीवन को उसकी प्रवृत्तियों के अनुसार एक नई दिशा दे सके।

उपनयन-संस्कार और वेदारम्भ-संस्कार

उपनयन तथा वेदारम्भ-संस्कार एक-दूसरे से इतने जुड़े हुए हैं कि इन दोनों में भंदे करना कठिन है। ऋषि दयानन्द सरस्वती संस्कारविधि में लिखते हैं कि जो दिन उपनयन-संस्कार का है, वही दिन वेदारम्भ का है। यदि वेदारम्भ उसी दिन न हो सके तो दूसरे दिन कर लें। यदि दूसरे दिन भी अनुकूल न हो तो एक वर्ष के भीतर किसी दिंन करें। उपनयन-संस्कार तो घर-घर होता है, वेदारम्भ-संस्कार केवल गुरुकुलों में होता है। गायत्री-मन्त्र से लेकर साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों का अध्ययन करने के लिये नियम धारण करने को वेदारम्भ-संस्कार (गायत्रीमन्त्र को गुरुमन्त्र से भी जाना जाता है) कहते हैं। वेदारम्भ-संस्कार का वैदिक शिक्षा-प्रणाली को

समझने में बड़ा महत्त्व है। वेदारम्भ–संस्कार शिक्षा प्रारम्भ करने का संस्कार है। इस संस्कार में 'गुरु', 'कुल', 'आचार्य', 'शिष्य', 'ब्रह्मचारी' आदि शब्दों को समझने की आवश्यकता है। संस्कारों का काम बालक को सब तरह से सुसंस्कृत करना है, और इस प्रक्रिया में शिक्षा का सबसे बड़ा हाथ है। 'शिक्षा' की समस्या के सम्बन्ध में वैदिक दृष्टिकोण क्या है—यह समझना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि 'शिक्षा' ही तो मनुष्य को मनुष्य बनाती है, नहीं तो वह निरा पशु रह जाता है। वेदारम्भ–संस्कार के रहस्य को समझने के लिये यह समझ लेना आवश्यक है कि वैदिक–शिक्षा–प्रणाली क्या थी, उसका वैज्ञानिक आधार क्या था। वैदिक ग्रन्थों के अवलोकन से हमें विदित होता है कि उपनयन संस्कार शिक्षा के मन्दिर में प्रवेश करने का द्वार हैं, इस द्वार में प्रविष्ट होकर विद्या का जो अध्ययन किया जाता है वह वेदारम्भ–संस्कार कहाता है।

पाठकों को उपनयन के विषय में छान्दोग्योपनिषद् (चतुर्थ प्रपाठक, नवमखण्ड) की एक कहानी प्रस्तुत की जाती है।

जाबाल सत्यकाम का उपनयन

कहते हैं कि एक बार जबाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माता से पूछा, हे भवति! मेरी इच्छा ब्रह्मचर्य धारण की है, मुझे यह तो बतलाओ, मेरा क्या गोत्र है? माता ने पुत्र से कहा, बेटा! मैं नहीं जानती तू किस गोत्र का है। मैं युवावस्था में अनेक व्यक्तियों की सेवा किया करती थी, उसी समय मैंने तुझे पाया, इसलिए मुझे नहीं मालूम तेरा क्या गोत्र है? बस, जबाला मेरा नाम है, सत्यकाम तेरा नाम है। सो गुरु के पूछने पर कह देना कि तू सत्यकाम जाबाल है।

सत्यकाम गौतम–गोत्री हारिद्रुमत मुनि के पास जाकर बोला, हे भगवन्! मैं नहीं जानता, मेरा क्या गोत्र है। मैंने मातुश्री से पूछा था, उन्होंने मुझे उत्तर दिया कि युवावस्था में वे अनेक व्यक्तियों की सेवा किया करती थी, उसी समय मेरा जन्म हुआ, इसलिए उन्हें नहीं मालूम कि मेरा क्या गोत्र है। माता ने कहा कि जबाला उनका नाम है, सत्यकाम मेरा नाम है। सो भगवन्! मैं जाबाल सत्यकाम हूँ।

मुनि ने कहा, जो ब्राह्मण न हो वह ऐसी बात कह ही नहीं

सकता—

न एतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति।

हे सौम्य! समिधा ले-आ, मैं तुझे उपनयन की दीक्षा दूँगा—**'उप त्वा नेष्ये'**। तू सत्य से डिगा नहीं—**'न सत्यात् अगाः इति'**।

मुनि ने सत्यकाम का उपनयन-संस्कार कर दिया और उसे ब्रह्मचर्य की दीक्षा दी।

वैदिक-संस्कृति में यज्ञोपवीत

वैदिक-संस्कृति का मन्त्र (पार० गृह्य० २,२) निम्नलिखित है। इसी मन्त्र का उच्चारण करके यज्ञोपवीत धारण करते हैं।

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः।

अर्थात् यज्ञोपवीत परम पवित्र है, आदिकाल से यह प्रजापति के साथ रहा है, यह आयु को देनेवाला है, बल देनेवाला है—इत्यादि।

गुरु तथा अन्तेवासी का अर्थ

गुरु तथा शिष्य की पारस्परिक प्रतिज्ञा निम्न मन्त्र से प्रकट होती है—

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

—पार० का० २, कं० २,१७

गुरु प्रतिज्ञा करके बालक (शिष्य) को आश्वासन देता है कि तेरे हृदय को मैं अपने हृदय में लेता हूँ, तेरे चित्त को अपने चित्त में लेता हूँ। गुरु तथा शिष्य एक-दूसरे के इतना निकट आने का यत्न करते हैं कि वे 'एकमना' हो जायें, एक दूसरे के प्रति दुविधा में न रहें। कितनी भारी जिम्मेवारी सौंपी गई है गुरु के उपर।

मनुष्य में चित्त तथा हृदय—ये दो ही तो बहुमूल्य निधियाँ हैं। चित्त में उसके विचार उठते हैं, हृदय में उसकी भावनाएँ उठती हैं। गुरु शिष्य के प्रति प्रतिज्ञा करता है कि तेरा चित्त और तेरा हृदय मैं अपने हाथ में लेता हूँ, और आगे आनेवाले जीवन के लिये तेरे दिमाग़ और दिल के सही निर्माण की जिम्मेवारी अपने हाथ में लेता हूँ। क्या शिक्षा का उद्देश्य इससे ऊँचा हो सकता है कि गुरु यह व्रत ले—प्रतिज्ञा करे, और भरी सभा में सब एकत्र व्यक्तियों के सामने

यह घोषणा करे कि वह अपने शिष्यों के दिमाग़ और दिल को—मस्तिष्क तथा हृदय को—इन दोनों को ऐसे रास्ते पर डाल देगा जिससे वे जीवन के संघर्ष में छाती तान कर खड़े हो सकें? आज की कौन-सी संस्था और आज का कौन-सा गुरु ऐसे व्रत की घोषणा कर सकता है? उपनयन का अर्थ है—विद्याध्ययन के दिन से ही गुरु तथा शिष्य का एक-दूसरे के निकट होना। आज कितने गुरु हैं जो अपने शिष्यों के निकट हैं और कितने शिष्य हैं जो गुरुओं के निकट हैं? यह दोनों ओर की यात्रा है—गुरु शिष्य के निकट आये, शिष्य गुरु के निकट आये। निकट आना तो दूर रहा, आज गुरु तथा शिष्य की दूरी बढ़ती जा रही है, उपनयन की जगह अपनयन हो रहा है।

संस्कृत में शिष्य के लिये एक अत्यन्त सार्थक शब्द प्रयुक्त होता है—'अन्तेवासी'। अन्तेवासी का अर्थ है—जो गुरु के अन्दर तक बसा हुआ है। उपनयन-संस्कार करते हुए गुरु शिष्य को कितना अपने अन्तरतम में ले-आता है इस भाव को दर्शाने के लिये अथर्ववेद काण्ड ११, सूक्त ५ का ३रा मन्त्र है जिसका प्रयोग संस्कारविधि में वेदारम्भ संस्कार में किया गया है, परन्तु वह मन्त्र उपनयन-संस्कार पर प्रकाश डालने में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उस मन्त्र में कहा है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

अर्थात् बालक को शिक्षा देने के लिये स्वीकार करते हुए गुरु उसे इस प्रकार सुरक्षित व सँभालकर रखता है जैसे माता पुत्र को अपने गर्भ में सुरक्षित तथा सँभालकर रखती है।

'अन्तेवासी'—शब्द की मानो उक्त मन्त्र में मार्मिक व्याख्या कर दी गई है। मातृ-गर्भ में जैसे शिशु सुरक्षित रहता है उसी प्रकार आचार्य-कुल में विद्यार्थी दूषित वातावरण से प्रभावित होने से बचा रहता है। क्या गुरु-शिष्य के सम्बन्ध का इससे ऊँच्चा चित्र खींचा जा सकता है? पुत्र माता के पेट में रहता है। माता सांस लेती है, गर्भ सांस नहीं लेता, माता भोजन करती है, गर्भ भोजन नहीं करता, परन्तु माता के सांस में उसका सांस, माता के भोजन में उसका भोजन, माता के जल-पान में उसका जल-पान है, गुरु तथा शिष्य

के निकटतम सम्बन्ध—'उप+नयन'—को समझाने के लियें माता तथा गर्भ के सम्बन्ध से अधिक सुन्दर क्या दूसरी कोई उपमा दी जा सकती है?

यज्ञोपवीत का महत्त्व

यज्ञोपवीत में तीन सूत्र होते हैं जो क्रमशः तीन ऋणों के सूचक हैं—(क) ऋषि-ऋण, (ख) पितृ-ऋण तथा (ग) देव-ऋण। प्रथम ऋण ब्रह्मचर्य धारण कर वेदविद्या के अध्ययन से, द्वितीय ऋण धर्मपूर्वक गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सन्तानोत्पत्ति से तथा तृतीय ऋण गृहस्थ का त्याग कर देश-सेवा के लिये अपने को तैयार करने से निवृत्त होते हैं, इसीलिए ये तीनों ऋण ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ—इन तीन आश्रमों के सूचक है। यही कारण है कि जब व्यक्ति इन तीनों ऋणों से मुक्त हो जाता है, तीनों आश्रमों को लाँघ जाता है, तब इस सूत्र को विधान के अनुसार जल में डाल देता है, फिर इसे धारण नहीं करता और संन्यास आश्रम में प्रविष्ट हो जाता है। ये तीनों ऋण जिनसे अनृण होना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है, क्या हैं?

(१) ऋषि-ऋण—समाज में ऋषि लोगों ने ज्ञान-विज्ञान का परिचय प्राप्त कर हमें ज्ञान दिया। अगर उनके पास ज्ञान न होता, तो हम निरे मूर्ख-के-मूर्ख रह जाते। जैसे उन लोगों ने ज्ञान प्राप्त कर उस ज्ञान को हम तक पहुँचाया, वैसे हम भी ज्ञान प्राप्त कर समाज में आगे-आगे ज्ञान-गङ्गा के बहते रहने का प्रबन्ध करें—इस बात की यज्ञोपवीत का एक सूत्र हमें याद दिलाता रहता है। जब हम ज्ञान प्राप्त कर रहे होते हैं तब ऋषियों द्वारा हमपर छोड़े गये ऋण की याद कर रहे होते हैं। यह कार्य ब्रह्मचर्याश्रम में ही होता है, इसलिए ब्रह्मचर्याश्रम हमें ऋषि-ऋण से अनृण होने की याद दिलता है।

(२) पितृ-ऋण—हमारे माता-पिता ने ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया और हमें उत्पन्न किया। अगर वे गृहस्थाश्रम में प्रवेश न करते, तब हमारा जन्म कैसे होता? इसी प्रकार हम ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त कर युवावस्था में गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर समाज को उत्तम सन्तति प्रदान करें, जिससे समाज में पिता से पुत्र, पुत्र से प्रपौत्र—इस प्रकार का सिलसिला बँधा रहे। जब हम ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर रहे होते हैं

तब अपने माता-पिता द्वारा हमपर छोड़े गये पितृ-ऋण की याद कर रहे होते हैं, यह कार्य गृहस्थाश्रम में ही होता है, इसलिए यज्ञोपवीत का दूसरा सूत्र हमें गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर पितृ-ऋण से अनृण होने की याद दिलाता है।

(३) देव-ऋण—आश्रम-जीवन का मुख्य उद्देश्य सकामता से निष्कामता की ओर अग्रसर होना है। हम संसार के काम-धन्धों में इतने फँसे रहते हैं कि उनका मोह हमें बाँधे रखता है। अन्त में सब मोहमाया ने छूटना है, हमारे देश तथा समाज के बड़ों ने जीवन में प्रवेश कर उसके बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर उसमें से निकलने तथा अपने को स्वतन्त्र करने का प्रयत्न किया, उन्होंने गृहस्थ में प्रवेश कर गृहस्थ को छोड़ा, वानप्रस्थ आश्रम में पग धरा। इसी प्रकार गृहस्थाश्रम को समाप्त कर हम समाज के भले, उसकी सेवा के लिये वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करें, गृहस्थ में ही न धँसे रहें।

इस बात को याद दिलाने के लिये यज्ञोपवीत का तीसरा सूत्र हमें समाज के दिव्य पुरुषों द्वारा हमपर छोड़े गये ऋण की ओर इङ्गित करता रहता है।

शतपथब्राह्मण में मुख्यरूप से तीन को गुरु माना है—

(क) मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद। वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है।

(ख) गुरु—गृ शब्दे इस धातु से सिद्ध होता है।

'यो धर्म्यान् शब्दान् गृणात्युपदिशति स गुरुः'

जो सत्यधर्म प्रतिपादक, सकल विद्यायुक्त वेदों का उपदेश करता, उसका नाम गुरु है।

विभिन्न ग्रन्थों में गुरु का लक्षण व महत्त्व

(ग) 'गुरु'—माता-पिता और जो सत्य का ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे वह भी 'गुरु' कहाता है।

—स्वमन्तव्याऽतन्यप्रकाश

गुरु का लक्षण

(घ) योऽधीतविद्यः सकलः स सर्वेषां गुरुर्भवेत्।
न च जात्याऽनधीतो यो गुरुर्भवितु मर्हति॥

—शुक्रनीतिसारः अध्याय ४, तृ०प्रक० श्लो० २१

अर्थ—सभी मनुष्यों का वही पुरुष गुरु हो सकता है जो कलाओं के सहित सभी विद्याओं को जानता है, परन्तु जो जाति से ऊच्च वर्ण का है, परन्तु है अशिक्षित तो ऐसा पुरुष गुरु कभी नहीं हो सकता।

(ङ) गुरु—आचार्य के लक्षण—

स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति।
उपनीय वदेद्वेदमाचार्यः स उदाहृतः॥

—याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय श्लो० ३४

अर्थ—वह गुरु होता है जो (उपनयन तक की क्रियाएँ करके इस (ब्रह्मचारी) को वेद का ज्ञान देता है। केवल उपनयन-संस्कार करके वेद प्रदान करनेवाले को आचार्य कहा गया है।

उपाध्यायस्य यः पुत्रो यश्च तस्य भवेद् गुरुः।
ऋत्वग्गुरुः पिता चेति गुरवः सम्प्रकीर्तिताः॥

—अ० १४५ पृ० ५९९१

उपाध्याय का जो पुत्र है वह गुरु है, उसका जो गुरु है वह भी अपने गुरु हैं, ऋत्विक् गुरु है और पिता भी गुरु है—ये सब-के-सब गुरु कहे गये हैं।

ज्येष्ठो भ्राता नरेन्द्रश्च मातुलः श्वसुरस्तथा।
भयत्राता च भर्ता च गुरवस्ते प्रकीर्तिताः।

—अ० १४५ पृ० ५९९१

बड़ा भाई, राजा, माता, श्वसुर, भय से रक्षा करनेवाला तथा स्वामी ये सब गुरु कहे गये हैं।

गुरु कौन?

गुकारस्त्वन्धकारः स्यात् रेफस्तस्य निवर्तकः।
अज्ञाननिवर्तकत्वात् गुरुरित्यभिधीयते॥

अर्थ—गु नाम है अज्ञान-अन्धकार का और रु कहते हैं दूर करनेवाले को, जो अज्ञान का नाश करता है, उसे गुरु कहते हैं।

आद्य शंकराचार्य ने भी गुरु विषय पर प्रकाश डाला है। **को वा गुरुर्यो हि हितोपदेष्टा, शिष्यस्तु को यो गुरुभक्त एव।** (प्रश्नोतरी)।

गुरु कौन है जो हित का अर्थात् यर्थाथ तत्त्व का उपदेष्टा हो,

शिष्य कौन है, जो गुरु का भक्त है।

गुरु अथवा आचार्य

शिक्षा देनेवाले को वैदिक विचारधारा में 'आचार्य' कहा गया है। इस विचारधारा में जहाँ विद्यार्थी को 'ब्रह्मचारी' कहा गया है, वहाँ शिक्षक 'गुरु' अथवा 'आचार्य' कहा गया है। 'आचार्य' का अर्थ है—'**आचारं ग्राह्यतीति आचार्यः**' जो सत्य आचार का ग्रहण कराता है, उसे आचार्य कहते है।

इस विषय का विशेष उपदेश गुरु वसिष्ठजी ने श्री रामचन्द्रजी को भी दिया है—

पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुंरुषर्षभ॥
शिक्षां ददाति चाचार्य्यस्तस्मात्स गुरुरुच्यते॥

—वा० रा० अयो० का०, स० १११

पिता पुत्र को जन्म देता है और आचार्य उसे बुद्धि देता है, अर्थात् आचार्य शिष्य को सत्यासत्य पदार्थों का ज्ञान कराता है, एतदर्थ आचार्य को ही गुरु कहते हैं।

इस विषय में मनुस्मृति (२।१४९) में लिखा है कि—

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया॥

जो विद्या पढ़ाने में थोड़ी अथवा बहुत सहायता करता है उसको गुरु जानना चाहिए। इस मनु-वाक्य के अनुसार मनुष्य के अनेक गुरू हैं, किन्तु ('गौणमुख्ययोर्मुख्यकार्य्यसम्प्रत्ययः' इस परिभाषा के अनुसार—

त्रयः पुरुषस्याति गुरवो भवन्ति, माता-पिता-आचार्य्यश्च॥

—विष्णुस्मृति० अ० ३१।१।२

मनुष्य के माता, पिता और आचार्य ये तीन मुख्य गुरु हैं।

परन्तु वेदादि विद्याओं को पढ़ाने के लिये माता-पिता दोनों से बढ़कर आचार्य ही मुख्य गुरु है, जैसाकि मनुस्मृति (२।१४६) में लिखा है—

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदःपिता।

पिता से वेदज्ञान दाता आचार्य बड़ा होता है।

बालक को जन्म देनेवाला पिता और पढ़ानेवाला आचार्य, इन

दोनों में से पढ़ानेवाला गुरु ही मुख्य है।

शुक्रनीति (अ० १) में भी लिखा है कि—

हितोपदेष्टा शिष्यस्य सुविद्याध्यापको गुरुः॥

मुख्य गुरु वह है कि जो विद्याभ्यासादि सदुपदेशों से शिष्य का यह लोक और परलोक सुधारे।

समित्पाणि होकर गुरु से प्रश्न पूछे।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

जो विद्वान् ब्राह्मण वैराग्य को प्राप्त हो चुका है उसके लिये और कुछ करने की आवश्यकता तो नहीं है, परन्तु कर्म से प्राप्त होनेवाले लोकों का विचार करके ऐसे ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्म पर श्रद्धा रखनेवाले गुरु के समीप कुछ हाथ में लेकर आत्मज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए उपस्थित होकर उससे नम्रतापूर्वक प्रश्नोत्तर करे।

'गुरुमहिमा'

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः॥ १॥

अर्थ—जो गुरुजन अपने ज्ञानरूपी अञ्जन की शलाका से अज्ञान-अन्धकार से युक्त शिष्यों की आँखों को खोल देते हैं। ऐसे सच्चे गुरुओं के लिये मेरा नमन है।

—ना० पु० पू० खं० अ० ६५ श्लोक ४६

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ २॥

—आ० पु० पू० खं० अ० ६५ श्लो० ४६

जिस प्रकार से किसी मनुष्य की भक्ति या श्रद्धा परमात्मा पर होती है उसी प्रकार अपने गुरु पर श्रद्धा होनी चाहिए, ऐसे श्रद्धालु महात्मा के सामने सभी विषय स्वयं प्रकट हो जाते हैं अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य परमात्मा पर श्रद्धा व विश्वास करता है उसी प्रकार यदि वह अपने पूज्य गुरु पर श्रद्धा या विश्वास रखता है, वही मनुष्य सभी विद्या के रहस्य को समझने में समर्थ होता है।

यः पृष्ट्वा कुरुते कार्यं पृष्टव्यान् स्वहितान् गुरून्।
न तस्य जायते विघ्नः कस्मिंश्चिदपि कर्मणि॥ ३॥

—पञ्चतन्त्रे ८५८

जो मनुष्य संसार में अपने हितकारी पूछने योग्य गुरुजनों से पूछकर कार्य का आरम्भ करता है किसी भी परिस्थिति में उसके किसी कार्य में विघ्न उपस्थित नहीं होते। इसलिए मनुष्य जब कोई कार्य प्रारम्भ करे तो अपने गुरुजनों से आज्ञा लेकर ही किसी कार्य का आरम्भ करे।

यावन्नानुग्रहः साक्षाज्जायते परमेश्वरात्।
तावन्न सद्गुरुं कश्चित्सच्छास्त्रं वाऽपि नो लभेत्॥ ४॥

—सुभाषितरत्नाकर गुरुप्र० ४॥

जब तक मनुष्य परमात्मा की ओर से साक्षात् अनुग्रह या सहयोग प्राप्त नहीं करता है तबतक उसको सद्गुरु की प्राप्ति नहीं होती है और न ही सच्चे शास्त्र समझ में आते हैं, या सद्ग्रन्थों की प्राप्ति नहीं होती। अभिप्राय यह है कि परमात्मा की कृपा के बिना सद्गुरु की प्राप्ति सम्भंव नहीं और न ही वेदादि सत्-शास्त्र उसकी समझ में आते हैं। यह सब ईश्वर की कृपा से ही हुआ करते हैं।

यावतायुस्त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः।
आदौ ज्ञानप्रसिद्ध्यर्थं कृतघ्नत्वापनुत्तये॥ ५॥

मनुष्य जबतक संसार में जीवित रहे तबतक गुरु, ईश्वर और वेद की पूजा करता रहे।

सबसे प्रथम ज्ञान में प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिये और कृतज्ञता प्रकट करने के लिये तथा कृतघ्नता को दूर करने के लिये उपर्युक्त तीनों की वन्दना या सम्मान करना आजीवन न भुलायें॥

सत्यं गृणाति शिष्येभ्य इत्येवं यो निरुच्यते।
हितोपदेशकश्चैव गुरु शब्दार्थ एव सः॥ ६॥

जो पुरुष अपने प्रिय शिष्यों को सत्य का ग्रहण या ज्ञान कराता है, साथ ही निरन्तर हित का उपदेश करनेवाला होता है, वही गुरु शब्द का अर्थ है।

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥ ७॥

—भाग० ११ अ० ३ श्लो० २१

इसलिए धर्मशास्त्र के ज्ञाता मनीषी जन यह कहते हैं कि जो जिज्ञासु और श्रेय चाहनेवाला है, वह ब्रह्म पर श्रद्धा रखनेवाले,

जितेन्द्रिय और व्याकरणशास्त्र पर अधिकार रखनेवाले विद्वान् को ही अपना गुरु बनावे, क्योंकि गुरु के बिना मनुष्य किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

गुरुभ्यस्त्वासनं देयमभिवाद्याभिपूज्य च।
गुरुमभ्यर्च्य वर्धन्ते आयुषा यशसा श्रिया॥ ८॥

—म० शां० अ० १८३ श्लो० १६

शिष्य का कर्त्तव्य यह है कि वह अपने गुरु को बैठने के लिये आसन देवे। उसका अभिवादन तथा सम्मान करे। ऐसा करनेवाले मनुष्य की तीन चीजें—आयु, यश और ऐश्वर्य सदैव बढ़ती ही रहती हैं। अतएव आयु, यश और धन चाहनेवाले मनुष्य को अपने गुरुजनों का सदैव सम्मान करना चाहिए।

कृतघ्नानां हि ये लोका ये लोका ब्रह्मघातिनाम्।
मृत्वा तानभिसंयाति गुरुद्रोहपरो नरः॥ ९॥

—आ०पु० अ० ८ श्लो० ८६७

जो मनुष्य लोक में अपने पूज्य गुरुजनों से द्रोह अथवा वैर करते हैं, ऐसा मनुष्य शरीर छोड़ने के बाद उन लोकों को प्राप्त होता है, जो लोक ब्रह्महत्या करनेवाले और कृतघ्न अर्थात् किये हुए उपकार को न माननेवाले को प्राप्त होते हैं।

विद्याऽभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम्॥ १०॥

संसार में मनुष्य को श्रेय और सुख प्रदान करनेवाले निम्नलिखित कार्य हैं—विद्या, अध्ययन, तप, ज्ञान प्राप्त करना, इन्द्रियों को संयम में रखना, अहिंसा और गुरुजनों की सेवा, इन कार्यों के करने से मनुष्य को संसार में सफलता मिला करती है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ ११॥

—गी० अ० ४ श्लो० ३४

योगिराज श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तत्त्वदर्शी ज्ञानी गुरुजन तभी उपदेश और जिज्ञासुओं की सभी शङ्काओं का प्रेमपूर्वक समाधान किया करते हैं जब शिष्य या जिज्ञासु सेवा करते हुए नम्रतापूर्वक उनसे प्रश्न पूछते हैं।

कर्णाभ्यां शृणुयात्तद्वद् गुरुकीर्तिञ्च सर्वदा।
दोषवक्तुर्यथाशक्ति कुर्यात्परिभवं सदा॥ १२॥

—आ० पु० अ० ८ श्लो० ८८०

मनुष्य सदैव अपने कानों से गुरु के यश का श्रवण करे। जो मनुष्य गुरु की त्रुटि निकाले तो यथाशक्ति उसका तिरस्कार करे, अर्थात् अपने कानों से शिष्य अपने गुरु की निन्दा न सुने, न करे, अपितु सदैव उसकी प्रशंसा किया करे।

यत्रात्मनो गुरोर्निन्दा क्रियते पापमोहितैः।
तत्र कर्णौ पिधायैव स्थेयं शक्या गतिर्न चेत्॥ १३॥

—म० अ० २ श्लो० २००

जहाँ कहीं पाप-बुद्धिवाला या अज्ञान के कारण से मोहित हुआ मनुष्य गुरु की निन्दा करने लगे तो यदि प्रतिवाद करने में समर्थ न हो तो वहाँ अपने कानों को बन्द कर लेवे, अर्थात् अपने गुरु की निन्दा या बुराई न सुने।

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी॥ १४॥

—म० अ० श्लो० २०१

धर्मशास्त्री लोग कहते हैं कि जो मनुष्य अपने गुरु की बुराई करता है वह अगले जन्म में गदहा होता है और जो निन्दा करता है वह कुत्ता होता है, अनुचित ढङ्ग से जो शिष्य अपने गुरु के धन का भोग करता है वह दूसरे जन्म में कृमि होता है और जो गुरु से ईर्ष्या करता है वह कृमि होता है।

त्यजेर्द्धमं दयाहीनं विद्याहीनं गुरुं त्यजे़त्।
त्यजेत्क्रोधमुखीं भार्यां निःस्नेहान्बान्धवांस्त्यजेत्॥ १५॥

—चा० अ० ४ श्लो० १६

नीतिशास्त्र के ज्ञाता लोग कहते हैं कि जो दयाहीन धर्म है उसे छोड़ देना चाहिए और जो विद्या से हीन गुरु है उसको भी छोड़ देना चाहिए उसे गुरु बनाने से लाभ नहीं है। इसी प्रकार जो क्रोध करने-वाली पत्नी है, वह भी छोड़ने के लायक है और स्नेह न रखनेवाले सम्बन्धी भी छोड़ने के योग्य है।

गुरवो विरलाः सन्ति शिष्यसन्तापहारकाः।
गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः॥ १६॥

संसार में ऐसे गुरु विरले होते हैं जो अपने शिष्यों के सन्ताप और अज्ञान को दूर करते हैं, परन्तु ऐसे गुरु बहुत मिल जाएँगे जो अपने शिष्यों से धन का अपहरण करते हैं।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥ १६॥

—मु० उ० मु० २ मं० १३

शमादि साधनों से सम्पन्न शान्तचित्तवाले और ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले शिष्य को ब्रह्मवेता गुरु ब्रह्मज्ञान का उपदेश करे। जिससे स्वयं अविनाशी, सत्यस्वरूप, परब्रह्म परमात्मा को जिस प्रकार से जानता है, वह आये हुए अपने विनम्र, सुशील शिष्य को वास्तविक ब्रह्मविद्या का उपदेश करे, जिससें वह भी ब्रह्म के स्वरूप को यथावत् समझकर अपने को कृतार्थ कर सके।

शास्त्रोपस्कृत-शब्द-सुन्दर-गिरः शिष्यप्रदेयागमाः।
विख्याता गुरवो वसन्ति विषये यस्य प्रभारे निर्धनाः।
तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य मुनयस्त्वर्थं विनापीश्वराः।
कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षका हि मणयो यैरर्घतः पातिताः॥ १७॥

जो शास्त्रों से संशुद्ध (समन्वित) शब्दों से युक्त सुन्दर वाणी का प्रयोग करते हैं, और अपना अर्जित शास्त्रज्ञान शिष्यों में वितरित करते हैं, ऐसे गुरु भी यदि किसी राजा के राज्य में निर्धन बने रहते हैं, तो वह उस अधिपति की ही जड़ता है। ऐसे मुनिजन तो बिना धन के भी ऐश्वर्य-सम्पन्न हुआ करते हैं। यदि कोई मूल्यवान् मणि का उचित मूल्य न लगाये तो वह कुपरीक्षक ही निन्द्य होता है।

नास्माकं शिबिका न चास्ति कटकाद्यालंक्रिया सत्क्रिया,
नोत्तुंगस्तुरगो न कश्चिदनुगो नाप्यमवरं सुन्दरम्।
किं तु क्ष्मातलवर्त्यशेषविदुषां साहित्यविद्याजुषां,
चेतस्तोषकरी शिरोनतिकरी विद्याऽनवद्यास्ति नः॥ १८॥

गुरुदेवजी कहते हैं कि हमारे पास रथ और पालकी नहीं हैं, सैन्यादि का भी कोई तामझाम नहीं है, न उतुंग तुरंग है, न कोई अनुचर है, न ही सुन्दर वस्त्र हैं; किन्तु पृथ्वीतल पर विद्यमान समस्त साहित्य और विद्यासेवियों के चित को सन्तोष देनेवाली, उनके सिरों को नत कर देने वाली, अनवद्य विद्या हमारे पास है।

यः श्रोत्रयोरमृतं संनिषिञ्चेद्,
विद्यामविद्यस्य यथा ममायम्।
तं मन्येऽहं पितरं मातरं च,
तस्मै न द्रुह्येत कृतमस्य जानन्॥
ऋतस्य दातारमनुत्तमस्य,
निधिं निधीनामपि लब्धविद्याः।
ये नाद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं,
पापान् लोकांस्ते व्रजन्त्यप्रतिष्ठाः॥ १९॥

—महा० भा० आ० ७६, ६३, ६४

जो मेरे जैसे विद्याहीन मनुष्य के कानों में विद्यारूपी अमृत सींचे, उस आचार्य को मैं अपना पिता और माता मानता हूँ। कोई भी मनुष्य ऐसे गुरु से उसके किये उपकार का स्मरण करते हुए कभी द्रोह न करे।

अतिश्रेष्ठ सत्यज्ञान देनेवाले तथा कोशों में उत्तम विद्यारूपी कोश को प्राप्त करानेवाले पूजनीय गुरु का जो उनसे विद्या–पाये लोग आदर नहीं करते, वे अस्थिर–मति होकर पापजनित दुःखमय लोकों को प्राप्त होते हैं।

नमो नमस्ते गुरवे महात्मने,
विमुक्तसङ्गाय सदुत्तमाय।
नित्याद्वयानन्दरसस्वरूपिणे,
भूम्ने सदाऽपारदयाम्बुधाम्ने॥ २०॥

—विवेक० ४८७

महान् आत्मावाले, आसक्ति से रहित, सत्पुरुषों में उत्तम, सदा परमानन्द–रस में निमग्न रहनेवाले, विशाल ज्ञानवाले और अपार दया के सागर आप गुरुदेव के प्रति हमारा बारम्बार नमस्कार है।

पादाभ्यां न स्पृशेदग्निं गुरुं ब्राह्मणमेव च।
नैव गां न कुमारीं च न वृद्धं न शिशुं तथा॥ २१॥

—चा० ७।६

अग्नि, गुरु, ब्राह्मण, गौ, कुमारी, वृद्ध और शिशु इन सबको पैर से स्पर्श कभी नहीं करना चाहिए।

यथा खात्वा खनित्रेण भूतले वारि विन्दति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधि गच्छति॥ २२॥

—चा० १३।१६

जैसे भूमि खोदनेवाला फावड़े आदि के द्वारा भूमि को खोदकर उसमें से जल प्राप्त कर लेता है, इसी प्रकार गुरुहस्तगत विद्या को सेवा करनेवाला ही प्राप्त कर पाता है।

गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा।
अथवा विद्यया विद्या चतुर्थं नोपलभ्यते॥ २३॥

—चा० १३।१७

विद्या की प्राप्ति या तो गुरुसेवा से हो सकती है अथवा बहुत बड़ी धनराशि द्वारा विद्या अर्जित की जा सकती है अथवा विद्या के द्वारा एक विद्या पढ़ाकर दूसरी विद्या की प्राप्ति हो सकती है, चौथा कोई प्रकार नहीं है।

गुरुसेवा का फल

मनुस्मृति में लिखा है कि—

(१) यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले।
युक्तः परिचरेदेवमाशरीरविमोक्षणात्॥

—मनु० ११८

अर्थ—यदि ब्रह्मचारी शिष्य गुरुकुल में आयु-पर्यन्त निवास करना चाहे तो शरीर छूटनेपर्यन्त अपने गुरु की प्रयत्नपूर्वक सेवा करे।

(२) आ समासेः शरीरस्य यस्तु शूश्रूषते गुरुम्।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्राह्मणः सद्यः शाश्वतम्॥

—मनु० २।२१९

जो ब्रह्मचारी शरीर के त्याग होने तक अर्थात् मृत्युपर्यन्त (ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक) गुरु की सेवा करता है। वह विद्वान् व्यक्ति परमात्मा के नित्य पद मोक्ष को शीघ्र प्राप्त करता है।

शिष्य आरुणि की गुरुभक्ति

महाभारत के आदिपर्व में आरुणि की कहानी बहुत प्रसिद्ध है, पाठकों के लाभार्थ दो कहानियाँ "गुरुभक्ति" के विषय में दी जा रही हैं।

एतस्मिन्नन्तरे कश्चिदृषिर्धौम्यो नामायोदः ।
तस्य शिष्यास्त्रयो बभूवुरुपमन्युरारुणिर्वेदश्चेति ॥ १९॥
स एकं शिष्यमारुणिं पाञ्चाल्यं प्रेषयामास ।
गच्छ केदारखण्डं बधानेति ॥ २०॥

धौम्य नाम का एक ऋषि था, उनके उपमन्यु, आरुणि और वेद नाम के तीन शिष्य थे। ऋषि ने एक बार पांचाल देशीय शिष्य आरुणि को (यह आज्ञा देक) भेजा कि "तुम खेत में जाकर क्यारियों के बाँध बाँधो" ॥ २० ॥

स उपाध्यायेन संदिष्ट आरुणिः पाञ्चाल्यस्तत्र गत्वा
तत्केदारखण्डं बद्धुं नाशक्नोत् ॥ २१ ॥
स क्लिश्यमानोऽपश्यदुपायम्।
भवत्वेवं करिष्यामीति ॥ २२ ॥
स तत्र संविवेश केदारखण्डे।
शयाने तस्मिंस्तदुदकं तस्थौ ॥ २३ ॥
ततः कदाचिदुपाध्याय आयोदो धौम्यः शिष्यानपृच्छत्।
क्व आरुणिः पाञ्चाल्यो गत इति ॥ २४ ॥

पाञ्चालदेशीय आरुणि गुरु से आदिष्ट होकर वहाँ जाकर बड़े-बड़े कष्ट उठाने पर भी बाँध को बाँध नहीं सका ॥ २१ ॥

बहुत परिश्रम करने के बाद उसने एक उपाय देखा और बोला कि—"ठीक है, अब ऐसा ही करूँगा" ॥ २२ ॥

और यह कहकर वह वहीं एक क्यारी में लेट गया। उसके लेट जाने पर वह जल भी रुक गया ॥ २३ ॥

इसके बाद एक दिन उपाध्याय अयोद धौम्य ने शिष्यों से पूछा "पाञ्चालदेशीय आरुणि कहाँ गया है?" ॥ २४ ॥

ते प्रत्यूचुः।
भगवतैव प्रेषितो गच्छ केदारखण्डं बधानेति ॥ २५ ॥
स एवमुक्तस्ताञ्शिष्यान्प्रत्युवाच।
तस्मात्सर्वे तत्र गच्छामो यत्र स इति ॥ २६ ॥
स तत्र गत्वा तस्याह्वानाय शब्दं चकार।
भो आरुणे पाञ्चाल्ये क्वासि। वत्सैहीति ॥ २७ ॥
स तच्छ्रुत्वा आरुणिरुपाध्यायवाक्यं तस्मात्केदार-
खण्डात्सहसोत्थाय तमुपाध्यायमुपतस्थे। प्रोवाच चैनम्।
अयमस्म्यत्र केदारखण्डे निःसरमाणमुदकमवारणीयम्।
संरोदधुं संविष्टो भगवच्छब्दं श्रुत्वैव सहसा विदार्य केदार-
खण्डं भवन्तमुपस्थितः। तदभिवादये भगवन्तम्।
आज्ञापयतु भवान्। किं करवाणीति ॥ २८ ॥

शिष्यों ने उत्तर दिया—भगवन्! आप ही ने उसको यह कहकर भेजा है कि—"जाओ खेत का बाँध बाँध दो" ॥ २५ ॥

इस प्रकार कहे जाने पर धौम्य ने शिष्यों से कहा, "चलो जहाँ आरुणि गया है, हम सब वहीं चलें" ॥ २६ ॥

वह बाँध के पास पहुँचकर चिल्लाकर पुकारने लगे। "पाञ्चाल्य आरुणे! कहाँ हो? हे पुत्र! चले आओ" ॥ २७ ॥

आरुणि उपाध्याय की आवाज सुनकर उस बाँध से एकाएक उठकर उनके निकट उपस्थित हुआ और उनसे बोला "भगवन्! मैं यहाँ हूँ", आपके खेत में से निकलनेवाले तथा न रुकनेवाले जल को रोकने के लिये वहीं पर लेटे हुए मैंने आपका शब्द सुना, इसी से एकाएक खेत को तोड़कर आपके पास आ पहुँचा हूँ। आपको प्रणाम करता हूँ। आप आज्ञा दीजिये। इस समय कौन-सा कार्य करूँ ॥ २८ ॥

तमुपाध्यायोऽब्रवीत्। यस्माद्भवान्केदारखण्डमवदार्यो-
स्थितस्तस्माद्भवानुद्दालक एव नाम्ना भविष्यतीति ॥ २९ ॥
स उपाध्यायेनानुगृहीतः। यस्मात्त्वया मद्वचोऽनुषितं
तस्माच्छ्रेयोऽवात्स्यसीति। सर्वे च ते वेदाः।
प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्मशास्त्राणीति ॥ ३० ॥
स एवमुक्त उपाध्यायेनेष्टदेशं जगाम ॥ ३१ ॥

(आरुणि की बात पूरी होने पर) उपाध्याय ने उससे कहा, "बेटा। चूँकि तुम बाँध को बिना तोड़े ही निकलकर आये हो, सो तुम उद्दालक नाम से प्रसिद्ध होगे" ॥ २९ ॥

उसपर उपाध्याय ने कृपा की, "क्योंकि तुमने मेरी आज्ञा का पालन किया है, सो तुम कल्याण को प्राप्त करोगे और सम्पूर्ण वेद और धर्मशास्त्र तुम्हारे मन में प्रकाशित रहेंगे" ॥ ३० ॥

आगे आरुणि उपाध्याय की आज्ञा से अपने इष्ट देश को पधारा ॥ ३१ ॥

उपाध्याय का लक्षण

एकदेशमुपाध्याय ऋत्विग्यज्ञकृदुच्यते।
एते मान्या यथापूर्वमेभ्यो माता गरीयसी ॥

—याज्ञवल्क्यस्मृति आचाराध्याय ३५

अर्थ—वेद के एक भाग या अङ्ग की शिक्षा देनेवाला उपाध्याय होता है, और यज्ञ-कर्म करानेवाले को ऋत्विज कहते हैं। ये (गुरु, आचार्य) उपाध्याय और ऋत्विक् क्रमानुसार पूज्य होते हैं और माता इन सबसे अधिक पूज्य होती हैं।

गुरु को भिक्षा-समर्पण

समाहृत्य तु तद् भैक्षं यावदन्नममायया।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः॥
—मनु० ३।२६

अर्थात् (तत् भैक्षं तु समाहृत्य) उस भिक्षा को आवश्यकतानुसार लाकर (यावत्+अन्नम्) जितनी भी वह भोज्य सामग्री हो उसे (अमायया) निष्कपटभाव से (गुरवे निवेद्य) गुरु को निवेदित करके (शुचिः) स्वच्छ होकर (प्राङ्मुखः) पूर्व की ओर मुख करके (आचम्य) आचमन करके (अश्नीयात्) खाये।

महाभारत के आदिपर्व में आज्ञकारी द्वितीय शिष्य उपमन्यु की गुरुभक्ति

अथापरः शिष्यस्तस्यैवायोदस्य धौम्यस्योपमन्युर्नाम॥ ३२॥

उसी अयोद धौम्य के दूसरे शिष्य का नाम उपमन्यु था॥ ३२॥

तमुपाध्यायः प्रेषयामास। वत्सोपमन्यो गा रक्षस्वेति॥ ३३॥

स उपाध्यायवचनादरक्षद्गाः। स चाहनि गा रक्षित्वा दिवंसक्षयेऽभ्यागम्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे॥ ३४॥

तमुपाध्यायः पीवानमपश्यत्। उवाच चैनम्।

वत्सोपमन्यो केन वृत्तिं कल्पयसि। पीवानसि दृढमिति॥ ३५॥

स उपाध्यायं प्रत्युवाच। भैक्षेण वृत्तिं कल्पयामीति॥ ३६॥

उपाध्याय ने उसको भेजा और कहा—"बेटा! तुम गोरक्षा करो"॥ ३३॥

उपमन्यु उपाध्याय की आज्ञानुसार गोरक्षा करने लगा। दिनभर गाय की रक्षा करके संध्या को वापस आता और गुरु के सामने नमन किया करता था॥ ३४॥

एक दिन उपाध्याय ने उसको पुष्ट देखा और इससे बोले, "बेटा उपमन्यो! तुम किससे अपनी जीविका चलाते हो। तुमको बहुत पुष्ट देखता हूँ"॥ ३५॥

उपमन्यु उपाध्याय से बोला, "मैं भिक्षा से अपनी जीविका का निर्वाह कर लेता हूँ" ॥ ३६ ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच।
ममानिवेद्य भैक्षं नोपयोक्तव्यमिति ॥ ३७ ॥
स तथेत्युक्त्वा पुनररक्षद्गाः। रक्षित्वा चागम्य
तथैवोपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ३८ ॥
तमुपाध्यायस्तथापि पीवानमेव दृष्टोवाच।
वत्सोपमन्यो सर्वमशेषतस्ते भैक्षं गृह्णामि।
केनेदानीं वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ३९ ॥
स एवमुक्त उपाध्यायेन प्रत्युवाच।
भगवते निवेद्य पूर्वमपरं चरामि।
तेन वृत्तिं कल्पयामीति ॥ ४० ॥

उपाध्याय बोले कि—"मेरी आज्ञा के बिना भिक्षा के अन्न का भोजन नहीं करना चाहिए" ॥ ३७ ॥

"ऐसा ही होगा" कहकर वह फिर गौ की रक्षा करने लगा। इस प्रकार गोरक्षा कर उपाध्याय के समक्ष जाकर उन्हें नमस्कार किया करता था ॥ ३८ ॥

उसपर भी उसको पुष्ट देखकर उपाध्याय बोले, "बेटा उपमन्यो! तुम्हारा सब भिक्षान्न तो मैं ले लेता हूँ। अब तुम किस प्रकार से भोजन-कार्य का निर्वाह करते हो?" ॥ ३९ ॥

उपाध्याय से इस प्रकार पूछे जाने पर उपमन्यु बोला, "पहिली बार की भिक्षा आपको देकर मैं फिर दूसरी बार भिक्षा माँगता हूँ। उसी से मेरी जीविका का निर्वाह होता है" ॥ ४० ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच। नैषा न्याय्या गुरुवृत्तिः।
अन्येषामपि वृत्त्युपरोधं करोष्येवं वर्तमानः।
लुब्धोऽसीति ॥ ४१ ॥
स तथेत्युक्त्वा गा अरक्षत। रक्षित्वा च पुनरुपाध्याय
गृहमागम्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ४२ ॥
तमुपाध्यास्तथापि पीवानमेव दृष्ट्वा पुनरुवाच।
अहं ते सर्वं भैक्षं गृह्णामि न चान्यच्चरसि।
पावीनसि। केन वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ४३ ॥

स उपाध्यायं प्रत्युवाच।

भो एतासां गवां पयसा वृत्तिं कल्पयामीति॥ ४४॥

उपाध्याय उससे बोले, "ऐसा करना गुरुकुल में रहनेवालों को उचित नहीं है"। ऐसा करते हुए तुम दूसरे भिक्षार्थियों की वृत्ति को मार देते हो। तुम लोभी हो॥ ४१॥

उपमन्यु यह कहकर कि "फिर ऐसा न करूँगा" पूर्ववत् गोरक्षा करने लगा। गोरक्षा करके गुरु के घर में आकर पूर्ववत् गुरु के सामने खड़ा होकर नमस्कार किया करता था॥ ४२॥

उपाध्याय ने उसपर भी उसको पूर्ववत् पुष्ट देखकर फिर पूछा। "बेटा उपमन्यो! तुम्हारी सब भिक्षा तो मैं ले लेता हूँ, फिर दूसरी बार तुम भिक्षा भी नहीं माँगते हो। उसपर भी तुमको बहुत पुष्ट देखता हूँ। इन दिनों तुम क्या खाते हो?"॥ ४३॥

उपमन्यु उपाध्याय से बोला "इन गौओं का दूध पीकर जीवन निर्वाह करता हूँ॥ ४४॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच।

नैतन्न्याय्यं पय उपयोक्तुं भवतो मयाननुज्ञातमिति॥ ४५॥

स तथेति प्रतिज्ञाय गा रक्षित्वा पुनरुपाध्याय गृहानेत्य

गुरोरग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे॥ ४६॥

तमुपाध्यायः पीवानमेवापश्यत्। उवाच चैनम्।

भैक्षं नाश्नासि न चान्यच्चरसि। पयो न पिबसि।

पीवानसि। केन वृत्तिं कल्पयसीति॥ ४७॥

स एवमुक्त उपाध्यायं प्रत्युवाच।

भोः फेनं पिबामि यमिमे वत्सा मातॄणां स्तनं

पिबन्त उद्गिरन्तीति॥ ४८॥

उपाध्याय उससे बोले, "मेरी आज्ञा के बिना तुम्हारा दूध पीना उचित नहीं है"॥ ४५॥

उपमन्यु तथास्तु कहकर प्रतिज्ञापूर्वक गोरक्षा करके फिर गुरु के घर में आकर पूर्ववत् नमस्कार कर खड़ा हुआ॥ ४६॥

उपाध्याय ने उसको पूर्ववत् पुष्ट देखा और उससे कहा, "भिक्षान्न का भोजन नहीं करते, दूसरी बार भिक्षा भी नहीं माँगते। दूध भी नहीं पीते, तो भी पुष्ट हो, अब किस प्रकार से भूख मिटाते

हो?'' ॥ ४७ ॥

उपाध्याय के ऐसा कहने पर उपमन्यु उपाध्याय से बोला, ''बछड़े अपनी-अपनी माताओं के स्तन पीते हुए जो फेन (झाग) गिराते हैं, मैं उसी को पीकर प्राण बचाता हूँ'' ॥ ४८ ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच। एते त्वदनुकम्पया गुणवन्तो वत्साः
प्रभूततरं फेनमुद्गिरन्ति। तदेवमपि वत्सानां वृत्त्युपरोधं
करोष्येवं वर्तमानः। फेनमपि भवान्न पातुमर्हतीति ॥ ४९ ॥
स तथेति प्रतिज्ञाय निराहारस्ता गा अरक्षत्।
तथा प्रतिषिद्धो भैक्षं नाश्नाति न चान्यच्चरति।
पयो न पिवति। फेनं नोपयुंक्ते ॥ ५० ॥
स कदाचिदरण्ये क्षुधार्तोऽर्कपत्राण्यभक्षयत् ॥ ५१ ॥
स तैरर्कपत्रैर्भक्षितैः क्षारकटूष्णविपाकिभिश्चक्षुष्युपहतोऽ-
न्धोऽभवत्। सोऽन्धोऽपि चङ्क्रम्यमाणः कूपेऽपतत् ॥ ५२ ॥

सुनकर उपाध्याय उससे बोले, ''ये सब गुणवान् बछड़े तुमपर दया करके बहुत अधिक फेन गिराते हैं। इस प्रकार तुम उसी फेन को पीकर बछड़ों की वृत्ति का लोप करते हो, अतः फेन पीना भी तुम्हारे लिये अनुचित है ॥ ४९ ॥

उपमन्यु तथास्तु कहकर और निराहार रहकर गोरक्षा करने लगा। पर गुरु के मना करने के कारण उसने न तो भिक्षान्न खाया, न दूसरी बार भिक्षा माँगी, न दूध पीया और न उगला हुआ फेन ही पिया ॥ ५० ॥

अतः एक दिन भूख से अति कातर होकर उसने वन में मदार (आक़-अकौव्वा) का पत्ता खां लिया ॥ ५१ ॥

खारे, कड़ुए तथा उष्णता पैदा करनेवाले उन पतों को खाने के कारण वह अपनी आँखों को खोकर अन्धा हो गया। वह अन्धा होकर वन में घूमता हुआ एक कुँएँ में गिर पड़ा ॥ ५२ ॥

अथ तस्मिन्ननागच्छत्युपाध्यायः शिष्यानवोचत्।
मयोपमन्युः सर्वतः प्रतिषिद्धः। स नियतं कुपितः।
ततो नागच्छति चिरगतश्चेति ॥ ५३ ॥
स एवमुक्त्वा गत्वारण्यमुपमन्योराह्वानं चक्रे।
भो उपमन्यो क्वासि। वत्सैहीति ॥ ५४ ॥

स तदाह्वानमुपाध्यायाच्छ्रुत्वा प्रत्युवाचोच्चैः।
अयमस्मि भो उपाध्याय कूपे पतित इति॥ ५५॥
तमुपाध्यायः प्रत्युवाच। कथमसि कूपे पतित इति॥ ५६॥

इसके बाद उपमन्यु के न लौटने पर उपाध्याय शिष्यों से बोले—"मैंने उसको सब प्रकार के भोजन करने से मना कर दिया था। इससे वह निःसंदेह क्रोधित हो गया होगा, अतः बहुत देर से गया हुआ वह अबतक लौटकर नहीं आया॥ ५३॥

यह कहकर शिष्यों के सङ्ग वन में जाकर उपमन्यु को पुकारने लगे, "हे उपमन्यो! कहाँ हो? हे पुत्र! आओ॥ ५४॥

उपमन्यु गुरु की पुकार सुनकर जोर से चिल्लाकर बोला, "हे उपाध्याय! मैं इस कूप में पड़ा हुआ हूँ"॥ ५५॥

उपाध्याय ने पूछा "तुम कूप में कैसे जा गिरे?"॥ ५६॥

स तं प्रत्युवाच अर्कपत्राणि भक्षयित्वान्धीभूतोऽस्मि।
अतः कूपे पतित इति॥ ५७॥

उपमन्यु उससे बोला—"मदार (आक) का पत्ता खाकर मैं अन्धा हो गया हूँ, अतः कूप में गिर गया"॥ ५७॥

विशेष=जब उपमन्यु आक के पत्ते खाकर गायों की रक्षा करते हुए तथा उनके साथ जङ्गल में विचरण करते हुए किसी कुँए में गिर पड़ा तब उसके उपाध्यायजी तथा सहपाठीगण उसके पास आये और वहाँ से निकालकर किसी चिकित्सक के पास ले गये और उपमन्यु से कहने लगे कि बेटा उपमन्यु आप ऋग्वेद में प्रतिपादित अश्विनि चिकित्सा पद्धति के अनुसार चिकित्सा कराओ। इससे आपकी आँखें पूर्ववत् स्वस्थ हो. जाएँगी। तदुपरान्त उपमन्यु ने उपाध्याय के द्वारा निर्दिष्ट विधि से अपनी आँखों का इलाज कराया। इससे उसकी आँखें अतिशीघ्र ज्योतिवाली हो गयीं, इससे यह पता चलता है कि ऋग्वेद में नेत्र रोगों से सम्बन्ध रखनेवाली चिकित्सा-पद्धति का वर्णन पाया जाता है। इस संकेत के अनुसार कोई मनुष्य नेत्र के विषय में कोई नई चिकित्सा-पद्धति को खोज करके समाज के सामने प्रस्तुत करे।

शिष्य का कर्त्तव्य

सृष्टि के प्रथम राजगुरु मनु ने शिष्य के विषय में बहुत कुछ

लिखा है।

(क) ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः॥
—मनु०

वेदारम्भ करने और समाप्ति पर गुरु के दोनों चरणों को स्पर्श करके सदैव प्रणाम करे। दोनों हाथों को जोड़कर पढ़ना चाहिए।

महर्षि दयानन्द जी शिष्य के विषय में प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि—

(ख) शिष्य—शिष्य उसको कहते हैं कि जो सत्य शिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य धर्मात्मा, विद्या ग्रहण की इच्छा और आचार्य का प्रिय करनेवाला है। —स्वमन्तव्यातव्यप्रकाश

(ग) गुरुवशानुवर्ती शिष्यः॥ —चाणक्यसूत्र, ३३७

अर्थ—शिष्य को सदा गुरु के अधीन रहना चाहिए।

(घ) न मीमांस्या गुरवः। —चाणक्यसूत्र ४२२

अर्थ—गुरुजनों की आलोचना नहीं करनी चाहिए।

(ङ) गुरुञ्च देवं च॥ —चा० सू० ३७५

अर्थ—गुरु और देवता (यज्ञ आदि) के सामने भी खाली हाथ न जाये।

(च) य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्। तं मन्येत पितरं मातरञ्च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्च नाह॥ —नि०पू०अ० २ पा० १ खं० ७

अर्थ—जो सत्य विद्योपदेश से कानों को खोलता है। दुःख न देता हुआ और विद्यारूप अमृतसुख को देता हुआ उस गुरु को ही पिता-माता के समान मानना चाहिए, उस गुरु को कभी दुःख न दे।

(छ) अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्म्मणा वा। यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्नं भुनक्ति श्रुतं तत्॥ —नि०पू०अ० २ पा० १ खं० ७

अर्थ—जैसे विद्याध्ययनावस्था में प्रीतिपूर्वक गुरु का आदर करे, ऐसे ही विद्या पढ़ने के पश्चात् भी गुरु का मन, वचन, काया से आदर करना चाहिए, ऐसे ही गुरु भी शिष्य को सदा आदर-

सम्मान व सुप्रीति से विद्याध्ययन कराया करे और शिष्य भी प्रतिदिन यथायोग्य निरन्तर ही विद्याभ्यास किया करे।

गुरुणा चैव निर्बन्धो न कर्तव्यः कदाचन।
अनुमान्यः प्रसाद्यश्च गुरुः क्रुद्धो युधिष्ठिर॥

—महाभारत १०४।८०

गुरु के साथ कभी हठ नहीं ठानना चाहिए। युधिष्ठिर! यदि गुरु अप्रसन्न हों तो उन्हें हर तरह से मान देकर—मनाकर प्रसन्न करने की चेष्टा करनी चाहिए।

कलहाँश्च विवादाँश्च गुरुभिः सह वर्जयेत्।
कैतवं परिहासाँश्च मन्युकामाश्रयाँस्तथा॥

—अ० १४५ पृ० ५९९१

गुरुजनों के साथ कलह और विवाद छोड़ दे। उनके साथ छल-कपट, परिहास तथा काम-क्रोध के आधारभूत बर्ताव भी न करे।

कर्म वै सफलं कृत्वा गुरुणां प्रतिपादयेत्॥ ४३॥
गुरुभ्यस्त्वासनं देयमभिवाद्याभिपूज्य च॥
गुरुमभ्यर्च्य वर्धन्ते आयुषा यशसा श्रिया॥ ४४॥

—अ० १६२

गुरु ने जिस कार्य के लिये आज्ञा दी हो, उसे पूरा करके उन्हें सूचित कर देना चाहिए।

गुरु के आने पर उन्हें प्रणाम करें और विधिवत् पूजा करके उन्हें बैठने के लिये आसन दें। गुरु की पूजा करने से मनुष्य के यश, आयु और श्री की वृद्धि होती है।

"द्रोणाचार्य के प्रति एकलव्य की गुरुभक्ति"

महाभारत के आदिपर्व में एक सौ तेइसवें अध्याय में निषाद-राज के पुत्र एकलव्य की कथा का उल्लेख मिलता है।

कौरवों और पाण्डवों के गुरु का नाम द्रोणाच्चार्य था, आचार्य द्रोण राजकुमारों को ही अपनी शस्त्राभ्यास की शिक्षा से शिक्षित करते थे, अन्यों को नहीं।

एक बार द्रोण रसोइए को एकान्त में बुलाकर बोले कि तुम कभी भी अँधेरे में अर्जुन को खाने के लिये अन्न मत देना॥

इसके बाद एक बार अर्जुन के भोजन करते हुए हवा चलने

लगी और उसने जलते हुए प्रदीप को बुझा दिया।

तेजस्वी अर्जुन तब अँधेरे में ही भोजन करने लगे, अभ्यास के कारण उनका हाथ मुख के अलावा किसी और स्थान में नहीं गया, इससे महाभुज पाण्डुनन्दन अर्जुन यह समझकर कि अभ्यास से ही ऐसा होता है, रात में भी शस्त्राभ्यास करने लगे।

हे भारत! आचार्य द्रोण ने रात्रि के समय उनके धनुष की डोरी का और बाणों के छूटने का शब्द सुना। वे उठकर वहाँ गये और गले लगाकर अर्जुन से बोले—

प्रयतिष्ये तथा कर्तुं यथा नान्यो धनुर्धरः।
त्वत्समो भविता लोके सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥ ६१॥

मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा कि मर्त्यलोक में तुम्हारे-जैसा धनुर्धारी कोई दूसरा न होगा।

ततो द्रोणोऽर्जुनं भूयो रथेषु च गजेषु च।
अश्वेषु भूमावपि च रणशिक्षामशिक्षयत्॥ ७॥

इसके बाद से वीर्यवान् द्रोणाचार्य ने अर्जुन को रथ पर, हाथी पर, घोड़े पर और भूमि पर युद्ध करने की शिक्षा दी और गदायुद्ध में, खड्ग चलाने में, तोमर, प्रास, शक्ति आदि विशेष अस्त्र फेंकने में और संकीर्ण युद्ध में अर्थात् एक ही समय अनेक बाण चलाने अथवा एक बार ही अनेक जनों के साथ युद्ध करने में अर्जुन को सुशिक्षित किया।

धनुर्वेद को सीखने की इच्छावाले सहस्रों राजा और अनेक राजकुमार उनके कौशल को देखकर वहाँ आये।

ततो निषादराजस्य हिरण्यधनुषः सुतः।
एकलव्यो महाराज द्रोणमभ्याजगाम ह॥ १०॥

हे महाराज! एक दिन हिरण्यधनु नामक निषादराज का कुमार एकलव्य द्रोण के पास आया॥ १०॥

न स तं प्रतिजग्राह नैषादिरिति चिन्तयन्।
शिष्यधनुषि धर्मज्ञस्तेषामेवान्ववेक्षया॥ ११॥

यह व्याध का पुत्र है और कहीं राजकुमारों से आगे न बढ़ जाय इस विचार से धर्मज्ञ द्रोण ने उसे शिष्यरूप में स्वीकार नहीं किया॥ ११॥

स तु द्रोणस्य शिरसा पादौ गृह्य परं तपः।
अरण्यमनु संप्राप्तः कृत्वा द्रोणं महीमयम्॥ १२॥

उस शत्रुनाशी एकलव्य ने द्रोणाचार्य के पाँवो पर सिर झुकाकर वन में जाकर मिट्टी से द्रोण की एक प्रतिमा गढ़ी॥ १२॥

तस्मिन्नाचार्यवृत्तिं च परमामास्थितस्तदा।
इष्वस्त्रे योगमातस्थे परं नियममास्थितः॥ १३॥

और उस प्रतिमूर्त्ति में आचार्य की महती श्रद्धा रखकर एकचित्त होकर धनुर्वेद सीखने लगा॥ १३॥

परया श्रद्धया युक्ते योगेन परमेण च।
विमोक्षादानसंधाने लघुत्वं परमाप सः॥ १४॥

अपनी महती श्रद्धा और एकचित्तता के कारण अस्त्रों के विमोचन, आदान और सन्धान में उसने बड़ी निपुणता प्राप्त कर ली॥ १४॥

अथ द्रोणाभ्यनुज्ञाताः कदाचित्कुरुपाण्डवाः।
रथैर्विनिर्ययुः सर्वे मृगयामरिमर्दनाः॥ १५॥

किसी समय शत्रुनाशी कौरव-पाण्डव द्रोणाचार्य की आज्ञा से रथ पर आरूढ़ होकर मृगया के लिये गये॥ १५॥

तत्रोपकरणं गृह्य नरः कश्चिद्यदृच्छया।
राजन्ननुजगामैकः श्वानमादाय पाण्डवान्॥ १६॥

हे राजन्! तब कोई एक मनुष्य मृगया के योग्य जलादि और एक कुत्ते को साथ लेकर अपनी इच्छानुसार पाण्डवों के साथ चलने लगा॥ १६॥

तेषां विचरतां तत्र तत्तत्कर्म चिकीर्षताम्।
श्वा चरन्स वने मूढो नैषादिं प्रतिजग्मिवान्॥ १७॥

स कृष्णं मलदिग्धाङ्गं कृष्णाजिनधरं वने।
नैषादिं श्वा समालक्ष्य भषंस्तस्थौ तदन्तिके॥ १८॥

उस वन में जब सब अपना-अपना काम पूरा करने के लिये घूम-घाम रहे थे, तब उनका साथी वह कुत्ता इधर-उधर घूमता हुआ उस निषादपुत्र एकलव्य की ओर निकल गया और वन में काले, मलिन अङ्गोंवाले तथा कृष्णाजिन पहिने हुए उस निषादपुत्र को देखकर उसके सामने खड़ा होकर भौंकने लगा॥ १७-१८॥

तदा तस्याथ भषतः शुनः सप्त शरान्मुखे।
लाघवं दर्शयन्नस्त्रे मुमोच युगपद्यथा॥ १८॥

तब व्याधपुत्र ने अस्त्र चलाने में शीघ्रता दिखाकर उस भौंकते हुए कुत्ते के मुँह में एक ही बार में सात बाण चलाये॥ १८॥

स तु श्वा शरपूर्णास्यः पाण्डवानाजगाम ह।
तं दृष्टा पाण्डवा वीरा विस्मयं परमं ययुः॥ २०॥

बाणों से मुँह भर जाने पर कुत्ता पाण्डवों के पास आया। वीर पाण्डवों को उसे उस दशा में देखकर बड़ा अचरज हुआ॥ २०॥

लाघवं शब्दवेधित्वं दृष्टा तत्परमं तदा।
प्रेक्ष्य तं व्रीडिताश्चासन्प्रशशंसुश्च सर्वशः॥ २१॥

तब सब लोग अस्त्र चलानेवाले की स्फूर्ती तथा शब्दबेधने का सामर्थ्य देखकर बड़े लज्जित हुए और सब प्रकार से उसकी प्रशंसा करने लगे॥ २१॥

तं ततोऽन्वेषमाणास्ते वने वननिवासिनम्।
ददृशुः पाण्डवा राजन्नस्यन्तमनिशं शरान्॥ २२॥

हे राजन्! तब पाण्डवों ने उस वन में रहनेवाले तथा अस्त्र चलानेवाले को वन में ढूँढते हुए रात-दिन बाण चलाते हुए एक वनवासी को देखा॥ २२॥

न चैनमभिजानंस्ते तदा विकृतदर्शनम्।
अथैनं परिपप्रच्छुः को भवान्कस्य वेत्युत॥ २३॥

तब उन्होंने उस स्वरूप बिगाड़े हुए व्याध को नहीं पहिचाना और अन्त में उन्होंने पूछा कि आप कौन है? किसके पुत्र है?॥ २३॥

एकलव्य उवाच

निषादाधिपतेर्वीरा हिरण्यधनुषः सुतम्।
द्रोणशिष्यं च मां वित्त धनुर्वेदकृतश्रमम्॥ २४॥

एकलव्य बोला—हे वीरगण! मैं निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र हूँ और धनुर्वेद में परिश्रम करनेवाले मुझे द्रोणाचार्य का शिष्य जानो॥ २४॥

वैशम्पायन उवाच

ते तमाज्ञाय तत्त्वेन पुनरागम्य पाण्डवाः।
यथावृत्तं च ते सर्वं द्रोणायाचख्युरद्भुतम्॥ २५॥

वैशम्पायन बोले—इसके बाद पाण्डवों ने उसको ठीक-ठीक पहिचानकर लौटकर वन में जो कुछ हुआ था वह सब आश्चर्यजनक वृत्तान्त द्रोणाचार्य को कह सुनाया॥ २५॥

कौन्तेयस्त्वर्जुनो राजन्नेकलव्यमनुस्मरन्।
रहो द्रोणं समागम्य प्रणयादिदमब्रवीत्॥ २६॥

हे राजन्! कुन्तीपुत्र अर्जुन एकलव्य को स्मरण करते हुए द्रोण के पास पहुँचकर प्रेम से एकान्त में बोले॥ २६॥

नन्वहं परिरभ्यैकः प्रीतिपूर्वमिदं वचः।
भवतोत्तमो न मे शिष्यस्त्वद्विशिष्टो भविष्यति॥ २७॥

हे आचार्य! पहिले आपने अकेले मुझको गले से लगाकर प्रेम से यह कहा था कि मेरा कोई शिष्य तुमसे श्रेष्ठ न होगा॥ २७॥

अथ कस्मान्मद्विशिष्टो लोकादपि च वीर्यवान्।
अस्त्यन्यो भवतः शिष्यो निषादधिपतेः सुतः॥ २८॥

फिर वीर्यवान् निषादराज का पुत्र आपका दूसरा शिष्य होकर मुझसे ही नहीं वरन् सम्पूर्ण लोगों से श्रेष्ठ क्यों हुआ?॥ २८॥

मुहूर्तमिव तं द्रोणश्चिन्तयित्वा विनिश्चयम्।
सव्यसाचिनमादाय नैषादिं प्रति जग्मिवान्॥ २९॥

तब द्रोण उस बात पर क्षणभर सोच-विचार और कुछ निश्चय करके सव्यसाची अर्जुन को साथ लेकर उस निषादराजपुत्र के यहाँ गये॥ २९॥

ददर्श मलदिग्धाङ्गं जटिलं चीरवाससम्।
एकलव्यं धनुष्पाणिमस्यन्तमनिशं शरान्॥ ३०॥

वहाँ मल से युक्त शरीरवाले, जटाधारी, चीर पहिने, हाथों से धनुष को थामकर रात-दिन बाण चलाते हुए एकलव्य को देखा॥ ३०॥

एकलव्यस्तु तं दृष्ट्वा द्रोणमायान्तमन्तिकात्।
अभिगम्योपसंगृह्य जगाम शिरसा महीम्॥ ३१॥

एकलव्य ने निकट आते हुए द्रोणाचार्य को देखकर निकट आकर पाँव छूकर प्रणाम किया॥ ३१॥

पूजयित्वा ततो द्रोणं विधिवत्स निषाद्राजः।
निवेद्य शिष्यमात्मानं तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः॥ ३२॥

विधिपूर्वक पूजकर तथा यह कहकर कि मैं आपका शिष्य हूँ, वह निषादराज का पुत्र दोनों हाथ जोड़कर सामने खड़ा हो गया॥ ३२॥

ततो द्रोणोऽब्रवीद्राजन्नेकलव्यमिदं वचः।
यदि शिष्योऽसि मे तूर्णं वेतनं संप्रदीयताम्॥ ३३॥

हे राजन्! तब द्रोण ने एकलव्य से यह बात कही कि हे वीर! यदि तुम मेरे शिष्य हो तो मुझे शीघ्र ही दक्षिणा दो॥ ३३॥

एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा प्रीयमाणोऽब्रवीदिदम्।
किं प्रयच्छामि भगवन्नज्ञापयतु मां गुरुः॥ ३४॥

एकलव्य ने यह सुनकर प्रसन्न चित्त से यह कहा कि भगवन्! आप मुझे आज्ञा कीजिये कि मैं क्या दूँ?॥ ३४॥

न हि किंचिददेयं मे गुरवे ब्रह्मवित्तम।
तमब्रवीत्त्वयाङ्गुष्ठो दक्षिणो दीयतां मम॥ ३५॥

हे ब्रह्मज्ञों में उत्तम! मेरे द्वारा गुरु को कुछ भी अदेय नहीं है। द्रोणाचार्य उससे बोले—तुम मुझको दाहिने हाथ का अंगूठा दक्षिणा में दे दो॥३५॥

एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा वचो द्रोणस्य दारुणम्।
प्रतिज्ञामात्मनो रक्षन्सत्ये च निरतः सदा॥ ३६॥
तथैव हृष्टवदनस्तथैवादीनमानसः।
छित्त्वाविचार्य तं प्रादाद् 'द्रोणायाङ्गुष्टमात्मनः॥ ३७॥

सदा सत्य पर अटल रहनेवाले एकलव्य ने अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण कर आचार्य द्रोण की वह कठोरवाणी सुनने पर भी चित्त में दुःख न मानकर और प्रसन्न होकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके अपने दाहिने अंगूठे को काटकर द्रोणाचार्य को दे दिया॥ ३६-३७॥

शिक्षा—धन्य है निषादराज जिसने एकलव्य जैसे पुत्र को जन्म देकर गुरुभक्ति को चार चाँद लगा दिये। जहाँ पर गुरु द्रोण का नाम स्मरण किया जाएगा, वहाँ पर एकलव्य की गुरुनिष्ठा सदैव अमर रहेगी।

छत्रपति शिवाजी और समर्थ गुरु रामदास

एक दिन महाराज शिवाजी ने अपने समर्थ गुरु रामदास स्वामी को भिक्षा माँगते देखा! शिवाजी महाराज सोचने लगे कि अरे! मेरे

गुरु की यह हालत है, जोकि प्रतिदिन भिक्षा माँगनी पड़ती है, अतएव एक दिन शिवाजी ने गुरु को भिक्षाटन हेतु निमन्त्रण अर्थात् अपने गृह पर आदरपूर्वक आहूत किया।

जब गुरु रामदास स्वामी भिक्षा हेतु पधारे तो छत्रपति शिवाजी ने काग़ज़ पर कुछ शब्द लिखकर वह पत्र उनकी झोली में डाल दिया। गुरु रामदासजी ने उस पत्र को पढ़ा। उस पत्र में लिखा था कि "मेरा सारा राज्य आपको सादर समर्पित है।" पत्र को पढ़कर गुरु रामदास स्वामी बहुत हर्षित हुए। पुनः उन्होंने शिवाजी को कहा, शिवा मैं तेरा राज्य स्वीकार करता हूँ। गुरुजी ने कहा कि यह राज्य मेरा हो गया है, परन्तु मेरी आज्ञा के अनुसार यह राज्य मैं तुझको सौंपता हूँ, क्योंकि शिवा! आजतक तू इसे अपना मानकर चलाता था, अब यह राज्य मेरा हो गया है। अब मेरा मानकर इस राज्य को चला।" शिवाजी गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर राज्य को चलाने लगे। अब शिवाजी पहले से अधिक मनोयोग से राज्य का कार्य देखने लगे, पर उसकी चिन्ता के भार से अपने को बिल्कुल हल्का महसूस करने लगे, वह ऐसा अनुभव करने लगे जैसाकि उनके सिर पर कोई बोझा है ही नहीं, मानो सारा बोझ सिर से उतर गया है।

शिक्षा—महाराष्ट्र की धरती शिवा और गुरु रामदास स्वामी के त्याग और समर्पण पर सदैव गर्व करती रहेगी।

गुरु और समावर्त्तन-संस्कार

आरम्भ में गुरु के द्वारा गुरुकुल में आठ वर्ष की अवस्था में वेदारम्भ संस्कार किया जाता है। वेदारम्भ करते हुए बालक शिक्षा का प्रारम्भ करता है। समावर्त्तन के समय वह शिक्षा को समाप्त करता है।

ओं यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती।
यशो भगश्च मा विदद्यशो मा प्रतिपद्यताम्॥

यहाँ विद्या समाप्ति पर ब्रह्मचारी प्रार्थना करता है कि समस्त संसार में विद्वानों के बीच में मुझे यश प्राप्त हो और परमात्मा मुझे यश प्राप्त करावे।

गुरुकुल में तीन प्रकार के स्नातकों का वर्णन मिलता है।

(१) विद्यास्नातक, व्रतस्नातक तथा विद्याव्रतस्नातक।

पारस्करगृह्यसूत्र (का० २, क० पू० सू० ३२-३५) में लिखा

है—

त्रयः स्नातकः भवन्ति।
विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति॥

अर्थात् जो केवल विद्या को समाप्त कर स्नातक बनता है वह 'विद्यास्नातक' कहलाता है। जो विद्या तो पूरी तरह से नहीं पढ़ पाता, परन्तु निश्चित समय तक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर लेता है, वह व्रतस्नातक कहलाता है। जो विद्या और व्रत दोनों को समाप्त कर लेता है वह 'विद्याव्रतस्नातक' कहलाता है।

समावर्त्तन-संस्कार का अर्थ है—बालक का शिक्षा समाप्त कर अपने घर को वापस लौट आना—सं-आवर्त्तन है।

जब बालक ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुल में विद्याध्ययन समाप्त कर घर लौटता था तब गुरु की आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मनुस्मृति के श्लोक का प्रमाण देकर सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में लिखा है—

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥

—मनु०

गुरु की आज्ञा ले, स्नान कर गुरुकुल से अनुक्रम पूर्वक आके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने वर्णानुकूल सुन्दर लक्षणयुक्त कन्या से विवाह करे।

गुरु दक्षिणा के पूर्व का स्नान

याज्ञवलक्यस्मृति आचाराध्याय पू० १ में लिखा है कि—

गुरवे तु वरं दत्वा स्नायाद्वा तदनुज्ञया।
वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा।

अर्थ—वेद का अध्ययन या व्रतों को समाप्त कर अथवा वेदाध्ययन एवं व्रत दोनों पूरा करके गुरु को यथाशक्ति दक्षिणा देकर उनकी आज्ञा से समावर्त्तन स्नान करे।

छान्दोग्य उपनिषद् में भी गुरुदक्षिणा और समावर्त्तन का उल्लेख है—

आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य, यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणा-

भिसमावृत्य, कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्वि-दधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिंसन्त्सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते।

—छान्दोग्य उपनिषद् ८।१५।१

अर्थात् आचार्यकुल से वेदों को पढ़कर, गुरु की दक्षिणा देकर समावर्त्तन द्वारा लौटकर, कुटुम्ब में स्वाध्याय में रत रहकर और धार्मिक विद्वानों के सत्सङ्ग में सब इन्द्रियों को वश मं करके, अहिंसा–बुद्धि से सब प्राणियों को देखता हुआ आयुपर्यन्त इस प्रकार का व्यवहार करता हुआ विद्वान् ही ब्रह्मलोक (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

अष्टाध्यायी के रचयिता गुरु पाणिनि ने "खट्वाक्षेपे" २।१।२५ सूत्र द्वारा गुरु की आज्ञा बिना गृहस्थाश्रम में प्रवेश को निन्दनीय बताया है।

(खट्वाक्षेपे)

भा० कः क्षेपो नाम। अधीत्य स्नात्वा गुरुभिरनुज्ञातेन खट्वाऽऽरोढव्या। य इदानीमतोऽन्यथा करोति स उच्यते खट्वारूढोऽयं जाल्मः नाति व्रतवान् इति। अध्ययनसमाप्तिमकृत्वा गुरोराज्ञां त्यक्त्वा च यो गृहस्थाश्रममाविशति, तस्य खट्वारूढः इति नाम। क्षेपस्तस्य निन्दा। खट्वारूढोऽयं मनुष्यः सर्वतोऽविनीत इत्यर्थः॥

क्षेप कहते हैं निन्दा को। खट्वामारूढ़ः=खट्वारूढः।

अर्थात् सब प्रकार से निन्दा करने योग्य।

धर्मशास्त्र का यह नियम है कि विद्या को यथावत् पढ़के गुरु की आज्ञानुसार लिखित नियम से स्नान करके गृहस्थाश्रम में जाना चाहिए। जो कोई इससे उल्टा अर्थात् विद्या पूरी न हो और गुरु की आज्ञा भी न हो और गृहस्थाश्रम में ज़ाता है उसको खट्वारूढ कहते हैं।

इस शब्द से उसकी निन्दा समझनी चाहिए।

—अष्टाध्यायीभाष्यम् महर्षि दयानन्दकृत

विद्याव्रतस्नातक की स्थिति शिक्षा की दृष्टि से सर्वोपरि थी।

विद्याव्रत स्नातक का क्या अर्थ है—यह एक दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाएगा।

महाभारत में एक कथानक आता है कि जब पाण्डव लोग गुरु के पास विद्याध्ययन कर रहे थे, तब एक दिन गुरुजी ने कहा— 'क्रोध न करो' यह आज का पाठ है, इसे याद करके कल सुनाना। अगले दिन जब गुरुजी ने पाठ सुनाने के लिये कहा, तब सबने रटा-रटाया पाठ सुना दिया, परन्तु युधिष्ठिर ने कहा कि मुझे पाठ याद नहीं हुआ।

यह सुनकर सब बालक हँसने लगे, परन्तु गुरुजी ने गम्भीर मुद्रा में पूछा कि यह छोटा-सा पाठ तुम्हें याद क्यों नहीं हुआ। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि वाक्य तो बहुत छोटा है, परन्तु क्रियात्मक रूप में यह उतना सरल नहीं है, क्योंकि मुझे झट छोटी-सी बात में गुस्सा आ जाता है। जबतक मुझे क्रोध आना बन्द न हो जाय, तबतक कैसे कह दूँ कि यह पाठ मुझे याद हो गया।

इस कथानक में विद्यास्नातक, व्रतस्नातक तथा विद्याव्रत स्नातक का भेद छिपा है।

विद्यास्नातक उसे कहते थे जो ग्रन्थों का अभ्यास कर लेता था, व्रतस्नातक उसे कहते थे जो ग्रन्थों में तो निपुण नहीं था, परन्तु क्रियात्मक-जीवन में आश्रमवास के सिद्धान्तों को अपने में उतार लेता था। विद्याव्रतस्नातक वह था जिसका अध्ययन तथा आचरण दोनों एक स्तर पर आ जाते थे, जिसकी कथनी तथा करनी में ताल-मेल बैठ जाता था।

शिक्षा का उद्देश्य किताबें रटा देना नहीं है, इसका उद्देश्य शिक्षा द्वारा सीखे हुए सिद्धान्तों का जीवन में क्रियात्मक रूप से ढाल लेना है—इसी लक्ष्य को सामने रखकर वैदिक-पद्धति विद्याव्रतस्नातक का निर्माण करती थी।

इसी प्रकार से रघुवंश नामक ग्रन्थ में विद्याव्रतस्नातक की द्वितीय घटना का अवलोकन करें।

गुरु वरतन्तु और कौत्स

जिस समय "विश्वजित्" यज्ञ में सर्वस्व दान करने के कारण सम्राट् रघु का ख़ज़ाना बिल्कुल खाली हो चुका था, उस समय वरतन्तु गुरु का शिष्य कौत्स अपनी शिक्षा समाप्त करके गुरुदक्षिणा की खोज में अयोध्या पहुँचा। सोने के सब बर्त्तन दिये जा चुके थे, अतः रघु ने मिट्टी के बर्त्तन में अर्घ्य प्रस्तुत किया। अर्घ्य-पाद्य आदि

में उस तपस्वी का सत्कार करके मानियों के प्रमुख सम्राट् रघु ने उसे आसन पर बिठाया और हाथ जोड़कर प्रश्न किया—

हे कुशाग्रबुद्धि मुनिवर! जैसे सारा संसार सूर्य से जीवन प्राप्त करता है, वैसे ही जिस मन्त्रवक्ताओं के अग्रणी ऋषिवर से तुमने सब विद्याएँ प्राप्त की है, वे कुशल से तो हैं? देवताओं के अधिपति को हिला देनेवाली महर्षि की त्रिविध तपस्या के मार्ग में कोई रुकावटें तो नहीं आतीं?

शरीर, वाणी और कर्म द्वारा देवताओं के राजा के आसन को हिला देनेवाला जो त्रिविध तप महर्षि ने संचित किया है, उसमें कहीं विघ्न-बाधाएँ तो उपस्थित नहीं होती?

शीतल छाया द्वारा थकान उतारनेवाले उन आश्रम के वृक्षों को जिन्हें आश्रमवासियों ने आलवाल बनाक़र तथा सब उपायों से सन्तान की तरह पाल-पोसकर बड़ा किया है, वायु आदि के उपद्रवों से हानि तो नहीं पहुँचती?

हरिणियों की जिस सन्तति को मुनि लोग अपने बच्चों से भी अधिक प्रेम करते हैं, जिनका जन्म मुनियों की गोद से ही होता है, जो यज्ञादि के निमित्त से भी अलग नहीं किये जाते, कुशल से तो हैं?

जिन पवित्र जलों से आप लोग दैनिक स्नानादि करते हैं, जिनकी अंजलियों से पितरों का तर्पण होता है और जिनकी रेतीली तटभूमि अन्न के षष्टभाग पर लगे हुए राजकर के चिह्नों से अंकित है, वे जल उपद्रवरहित तो हैं?

जिनसे आप अपना जीवन-निर्वाह और समय-समय पर आनेवाले अतिथियों का पूजन करते हैं, उन नीवार, श्यामाक आदि को अन्नों की भूसी की ख़ोज में आनेवाले गौ-भैंस आदि पालतू पशु तो नष्ट नहीं करते?

महर्षि ने विद्या की समाप्ति पर आपको गुरुकुल से प्रसन्नतापूर्वक घर जाने की अनुमति तो दे दी? क्योंकि अब वह समय आ गया है, जब आप अन्यों का उपकार करने की योग्यता के कारण ज्येष्ठ आश्रम—गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें।

केवल आपके आने से ही मेरा मन सन्तुष्ट नहीं हुआ, मैं उत्सुक हूँ कि आपके किसी आदेश का पालन भी करूँ। आपने मुझपर

अनुग्रह किया है कि अपने गुरु की आज्ञा से अथवा स्वयं जङ्गल से पधार कर मुझे कृतार्थ होने का अवसर दिया है।

वरतन्तु मुनि के शिष्य कौत्स ने अर्घ्य के पात्र को देखकर ही अनुमान लगा लिया था कि रघु सर्वस्व दान कर चुका है। राजा की उदार वाणी सुनकर भी कौत्स की आशा हरी नहीं हुई और वह बोला—

हे राजन्! आश्रम में सब प्रकार से कुशल-मङ्गल है। शासन की बागडोर आपके हाथों में रहते प्रजा को कष्ट हो ही कैसे सकता है? जब सूर्य दमक रहा हो तब प्राणियों की आँखों को अँधेरा कैसे ढक सकता है?

हे राजन्! पूज्यों के प्रति भक्ति की भावना रखना आपके कुल की प्रथा है। अपनी विशाल हृदयता के कारण आपने पूर्व-पुरुषों को भी मात दे दी है। मुझे इतना ही दुःख है कि मैं समय बीत जाने पर अपनी अभ्यर्थना लेकर यहाँ पहुँचा हूँ।

हे नरेन्द्र! वनवासियों द्वारा अन्न निकाल लेने पर जैसे नीवार का खोख़ला स्तम्भ (सूखा पौधा) शोभायमान होता है, सत्पात्रों को सर्वस्व दान देकर तुम वैसे ही शोभायमान हो रहे हो।

चक्रवर्ती साम्राज्य प्राप्त करके आज दान के कारण आपकी यह धनहीनता शोभाजनक ही है। देवताओं द्वारा अमृत पिये जाने पर चन्द्रमा की क्षीणता उसकी वृद्धि से कहीं अधिक प्रशंसनीय होती है।

राजन्! मैं किसी अन्य स्थान से गुरुदक्षिणा प्राप्त करने का यत्न करूँगा। मुझे तो इस समय इसके अतिरिक्त कोई कार्य नहीं है। भगवान् आपका कल्याण करे। बरसकर खाली हुए बादल से तो चातक भी पानी नहीं माँगता।

यह कहकर जब कौत्स विदा होने लगा तो राजा ने उसे रोककर पूछा हे विद्वन्! आप यह तो बताइए कि गुरु की सेवा में आपको क्या वस्तु कितनी भेंट करनी है? विश्वजित् यज्ञ को सफलतापूर्वक सफल करके भी अभिमान से शून्य, वर्णाश्रमों की रक्षा करनेवाले क्षत्रपति के प्रश्न को सुनकर वह स्नातक रुक गया और बोला—

विद्याध्ययन समाप्त करके मैंने महर्षि से निवेदन किया था कि मुझे गुरुदक्षिणा भेंट करने की आज्ञा दी जाए। गुरु ने मेरी चिरकाल

तक की हुई भक्तिपूर्ण सेवा को ही पर्याप्त समझा। फिर भी मैं गुरुदक्षिणा का आग्रह करता गया। इससे असन्तुष्ट होकर महर्षि ने कहा कि यदि तेरा ऐसा ही आग्रह है तो ग्रहण की हुई चौदह विद्याओं के बदले में चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ गुरुदक्षिणा के रूप में उपस्थित कर। हे राजन्! पूजा के मृन्मय पात्रों से मैंने जान लिया है कि आपका केवल 'प्रभु' नाम ही शेष है और मेरी माँग बहुत बड़ी है, इस कारण मैं आपसे आग्रह करने का साहस नहीं कर सकता।

वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ ब्राह्मण की इस प्रकार की बात सुनकर तेजस्वी और विद्वान् सम्राट् ने निवेदन किया—

भगवन्! विद्यारूपी समुद्र को पार करके एक स्नातक गुरु-दक्षिणा की खोज में रघु के पास आया और निराश होकर किसी दूसरे दानी के पास चला गया, यह अपकीर्ति मेरे लिए एक नई वस्तु होगी, जो मुझसे सहन नहीं हो सकेगी, अतः आप दो-तीन दिन तक मेरे यज्ञगृह में चतुर्थ अग्नि की भाँति आदरपूर्वक निवास करने का अनुग्रह करें। इस बीच में मैं आपकी अभीष्ट धनराशि जुटाने का यत्न करता हूँ।

रघु के वचन को अटल प्रतिज्ञा के समान मानकर कौत्स प्रसन्नतापूर्वक रुक गया। इधर यह सोचकर कि पृथ्वी का सार खींचकर तो मैं दान कर चुका हूँ, राजा ने कैलास के स्वामी कुवेर से अभीष्ट धनराशि लेने का संकल्प किया। जैसे वायु की सहायता प्राप्त होने पर अग्नि की गति अमोघ हो जाती है, उसी प्रकार वसिष्ठ मुनि के वरदान से रघु के रथ की गति न समुद्र में रुकती थी, न आकाश में मन्द होती थी और न पर्वतों पर ढीली पड़ती थी। उस रात रघु शस्त्रों से सुसज्जित रथ में ही सोया, मानो वह प्रातःकाल अपने किसी साधारण सामन्त को जीतने के लिए प्रयास करनेवाला हो। जब वह प्रातःकाल सोकर उठा तो कोषगृह के रखवालों ने सूचना दी कि आज रात कोषगृह में आकाश से सोने की वर्षा हो गई है। वह धनराशि इतनी थी कि मानो बिजली की चोट खाकर सुमेरु पर्वत की चट्टान टूट पड़ी हो। रघु ने वह सम्पूर्ण धन कौत्स की सेवा में भेंट कर दिया।

अयोध्या के निवासी यह दृश्य देखकर चकित और कृतकृत्य हो रहे थे कि याचक गुरुदक्षिणा की मात्रा से अधिक लेने से इनकार

करता था और दाता कुवेर से प्राप्त समस्त धनराशि देने पर तुला हुआ था।

राजा ने वह धनराशि कौत्स को अर्पण करके प्रणाम किया। सन्तुष्ट होकर विद्वान् ब्राह्मण ने राजा को आशीर्वाद दिया।

मथुरा से विद्याव्रत स्नातक बनकर बालब्रह्मचारी महर्षि दयानन्द सरस्वती ने गुरु विरजानन्दजी से पूर्ण शिक्षा प्राप्त करके गुरुदक्षिणा में 'लौंग' समर्पित किये।

गुरु ने कहा 'दयानन्द' जाओ वेदों का प्रचार-प्रसार करो, आर्यजाति अज्ञान-अन्धकार में डूबी हुई है। यथार्थ में गुरु की सत्य दीक्षा-दक्षिणा यही है।

महर्षि दयानन्द ने गुरु का आशीर्वाद प्राप्त करके आर्यजाति को ऊँचा उठाया। इनके लाखों अनुनायी वेदपथ की ओर अग्रसर हुए। आपने शैक्षणिक, समाजिकादि चहुँमुखी क्रान्ति का बिगुल बजाया।

गृहाश्रम का पहला फल गुरु को समर्पित

पण्डित टीकाराम का यज्ञोपवीत-संस्कार कर्णवास में ग्यारह वर्ष की अवस्था में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया। स्वामीजी ने तीन मास स्वयं पढ़ाकर फिर गुरु विरजानन्दजी के पास अष्टाध्यायी, महाभाष्य पढ़ने के लिये मथुरा भेज दिया। इसके पश्चात् काशी, नवदीप आदि कई स्थलों पर छतीस वर्ष तक विद्योपार्जन करते रहे। अन्त में कई विद्वानों के कहने पर आपका विवाह श्रीमती सुबुद्धिदेवी से हो गया। यह स्त्री संस्कृत विद्या में अद्वितीय विदुषी और सर्वदा संस्कृत में सम्भाषण करती थी।

जिनसे संवत् १९३७ माघशुक्ला तृतीया को पुत्र रत्न हुआ **"दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्यात्"** इस महा-भाष्य वचन के अनुसार ग्यारहवे दिन बालक का नाम "अखिलानन्द शर्मा" रक्खा गया।

एकान्तवास

सात महीने तक बालक "अखिलानन्द' ने 'माताजी का स्तनपान किया। आठवें महीने से पिताजी ने आपको माता से पृथक् कर दिया और गाय का दुग्ध पान कराकर एकान्त में गङ्गा के तट पर रक्खा, जिससे आपका मन मलीन न हो, मूर्खों की आवाज़ कान में न पड़े और संसार की खराब बातें देखने में न आवें, जिससे

आपके संस्कार उत्तम बने रहें।

मातृभाषा संस्कृत

आपके माता-पिता ने आपके जन्म से कई वर्ष पहले ही संस्कृत में भाषण करने का निश्चय कर लिया था, ताकि भावी सन्तान की मातृभाषा संस्कृत बने। उसका परिणाम ऐसा ही हुआ। आपकी माता जी ने २८ वर्ष विद्याध्ययन और ब्रह्मचर्यव्रत का पूर्णरूप से पालन किया, यज्ञोपवीत और मेखला का धारण किया, सायं-प्रातः ईश्वराराधन और हवन आदि का नियम रक्खा। आपके पिता पण्डित शिवकुमारजी शास्त्री के परम मित्र थे, इसलिए जब आप एक वर्ष के हो गये तब पिताजी इनको काशी ले गये। आपकी तोतली आवाज़ से निकली हुई संस्कृतभाषा सुनकर पण्डित शिवकुमारजी आश्चर्य करने लगे और कहने लगे कि यह विलक्षण बात आज ही देखने में आई है।

स्वामीजी से भेंट

यहाँ से चलकर फिर पिताजी ने आपको एक वर्ष तक एकान्त में रखकर संस्कृत बोलना सिखाया, इतने ही में तीसरा वर्ष आरम्भ हुआ। पिंताजी इनको स्वामी दयानन्द सरस्वती के पास ले गये और स्वामीजी से प्रार्थना की कि—"महर्षे! गृहस्थाश्रम का यह पहला फल आपके चरणों में समर्पित है, आप इसे स्वीकार करें।" इतना कहकर उसे श्री स्वामीजी के चरणों में लिटा दिया करुणा के एक मात्र आधार श्री स्वामीजी ने भी कुछ देर तक पैरों में पड़े हुए आपको उठाकर गोद में लिया और इनके पिताजी से कहा कि जाओ एकान्त में रहकर इसको संस्कारी बनाओ।

पण्डित टीकाराम का पुत्र "पण्डित अखिलानन्द शर्मा" महर्षि दयानन्द का पटु शिष्य बन गया, पण्डित अखिलानन्दजी "दयानन्द दिग्विजय" काव्य लिखकर आर्यसमाज में अमर हो गया।

अज्ञानी गुरु चेलों की कहानी

वर्तमान समय में मूर्ख गुरु और चेलों की क्या-क्या दुर्दशा और शिक्षा है, यह अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश का अवलोकन करने से विदित हो जाएगा, पढ़िए।

एक किसी वैरागी के दो चेले थे। वे प्रतिदिन गुरु के पग दाबा

करते थे। एक ने दाहिने पग और दूसरे ने बाएँ पग की सेवा करनी बाँट ली थी। एक दिन ऐसा हुआ कि एक चेला कहीं बजार-हाट को चला गया और दूसरा अपने सेव्य पग की सेवा कर रहा था। इतने में गुरुजी ने करवट फेरा तो उसके पग पर दूसरे गुरुभाई का सेव्य पग आ पड़ा। उसने ले डण्डा पैर पर धर मारा। गुरु ने कहा कि अरे दुष्ट! तूने यह क्या किया? चेला बोला कि मेरे सेव्य पग के ऊपर यह पग क्यों आ चढ़ा? इतने में दूसरा चेला जोकि बजार हाट को गया था, आ पहुँचा। वह भी अपने सेव्य पग की सेवा करने लगा। देखा तो पग सूजा पड़ा है। बोला कि गुरुजी! यह मेरे सेव्य पग में क्या हुआ? गुरु ने सब वृत्तान्त सुना दिया। वह भी मूर्ख न बोला न चाला, चुपचाप डण्डा उठाके बड़े बल से गुरु के दूसरे पग में मारा। अब तो गुरु ने उच्चस्वर से पुकार मचाई। तब तो दोनों चेले डण्डा लेके पिल पड़े और गुरु के पगों को पीटने लगे। बड़ा कोलाहल मचा और लोग सुनकर आये। कहने लगे कि साधुजी! क्या हुआ? उनमें से किसी बुद्धिमान् पुरुष ने साधु को छुड़ाने के पश्चात् उन मूर्ख चेलों को उपदेश किया कि देखो! ये दोनों पग तुम्हारे गुरु के हैं। उन दोनों की सेवा करने से उसी को सुख पहुँचता और दुःख देने से भी उसी एक को दुःख होता है।

जैसे एक गुरु की सेवा में चेलों ने लीला की इसी प्रकार जो एक अखण्ड, सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप परमात्मा के विष्णु, रुद्रादि अनेक नाम है, उस सत्यार्थ को न जानकर शैव, शाक्त, वैष्णवादि सम्प्रदायी लोग परस्पर एक-दूसरे के नाम की निन्दा करते हैं।

गुरु माहात्म्यसमीक्षा

प्रश्न— गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

इत्यादि गुरुमाहात्म्य तो सच्चा है? गुरु के पग धोके पीना, जैसी आज्ञा करे वैसा करना, गुरु लोभी हो तो वामन के समान, क्रोधी हो तो नरसिंह के सदृश, मोही हो तो राम के तुल्य और कामी हो तो कृष्ण के समान गुरु को जानना। चाहे गुरुजी कैसा ही पाप करे तो भी अश्रद्धा न करनी।

सन्त वा गुरु के दर्शन को जाने में पग-पग में अश्वमेध का फल होता है। यह बात ठीक है वा नहीं?

उत्तर—ठीक नहीं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और परब्रह्म परमेश्वर के नाम हैं। उसके तुल्य गुरु कभी नहीं हो सकता। गुरुमाहात्म्य विधायक गुरुगीता भी एक बड़ी पोपलीला है। गुरु तो माता, पिता, आचार्य और अतिथि होते हैं। उनकी सेवा करनी, उनसे विद्या, शिक्षा लेनी-देनी, शिष्य और गुरु का काम है, परन्तु जो गुरु लोभी, क्रोधी, मोही और कामी हो तो उसको सर्वथा छोड़ देना, शिक्षा करनी, सहज शिक्षा से न माने तो अर्घ्य, पाद्य अर्थात् ताड़ना, दण्ड, प्राणहरण तक भी करने में कुछ भी दोष नहीं। जो विद्यादि सद्गुणों में गुरुत्व नहीं है, झूठ-मूठ-कण्ठी तिलक वेद-विरुद्ध मन्त्रोपदेश करनेवाले हैं वे गुरु ही नहीं, किन्तु गड़रिये हैं। जैसे गड़रिये अपनी भेड़-बकरियों से दूध आदि से प्रयोजन सिद्ध करते हैं, वैसे ही शिष्यों का, चेले-चेलियों का धन हरके अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। वे—

दो०— गुरु लोभी चेला लालची, दोनों खेलें दाव।
भवसागर में डूबते, बैठे पत्थर की नाव॥

गुरु समझे कि चेले-चेली कुछ देवेंगे ही, और चेला समझे कि चलो गुरु झूठे सौगंध खाने, पाप छुड़ाने के काम आवेंगे, आदि लालच से दोनों कपटमुनि भवसागर के दुःख में डूबते हैं जैसे पत्थर की नौका में बैठनेवाले समुद्र में डूब मरते हैं। ऐसे गुरु और चेलों के मुख पर धूड़-राख पड़े। उसके पास कोई भी खड़ा न रहे जो रहे वह दुःखसागर में पड़ेगा। जैसी पोपलीला पुजारी-पुराणियों ने चलाई है, यह सब काम स्वार्थी लोगों का है। जो परमार्थी लोग हैं वे आप दुःख पावें तो भी जगत् का उपकार करना नहीं छोड़ते। और गुरुमाहात्म्य तथा गुरुगीता आदि भी इन्हीं लोभी, कुकर्मी गुरुओं ने बनाई है।

उपसंहार

(१) ह्रस्वं लघु। —अष्टाध्यायी १।४।१०

आदौ गुरोरन्तिकवासकाले।
'ह्रस्वं लघु' प्राप्य गुरौ वसन्तः।
तिस्रो निशाः यापितगर्भवासाः।
देवत्वमासाः विरताः रमन्ते॥

अर्थ—आरम्भ में गुरु के समीप गुरुकुल में निवास करते हुए

जो स्वयं में ह्रस्वता व लघुता का भाव बनाये रखते हैं, वे ज्ञान, कर्म और उपासना की तीन रात्रियों का गुप्त गर्भवास पूरा करके देवत्व को प्राप्त हो मुक्त भाव से प्रसन्न जीवन बिताते हैं।

(२) दीर्घं च। —अष्टाध्यायी १।४।१२

अन्ते वसन्तः गुरुशिष्यभावैः,
ज्ञान-प्रसादं गुणितं हि लब्ध्वा।
ब्रह्मावगाहेन सन्धाय शान्तिं,
'दीर्घं च, पुण्यं वररूपमापुः॥

जो शिष्यभाव से श्रद्धापूर्वक रहते हैं वे विशिष्ट गुणों से युक्त ज्ञान का प्रसाद पाते हैं। फिर ब्रह्म ध्यान में डुबकी लगाकर जीवन में शान्ति को अपनाकर महान् पुण्य का वर प्राप्त करते हैं।

(१) विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥
—मनु० २।११४

अर्थ—विद्या ने गुरु ब्राह्मण—वेदवेत्ता के पास जाकर कहा—"मैं तेरी निधि हूँ। मेरी रक्षा कर। असूया करनेवाले को मुझे मत दे। मेरी शक्तिमत्ता एवं सार्थकता इसी में है।"

(२) मनुस्मृति के समान निरुक्त में भी ऐसे ही अर्थवाला एक और श्लोक है—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम॥
—निरुक्त

(३) इसी विषय को गीता में भी कहा गया है।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥
—गीता १८।६७

अर्थ—यह अध्यात्मविषयक ज्ञान ऐसे व्यक्ति को नहीं देना चाहिए जो तपस्वी न हो, विद्या के प्रति भक्ति न रखता हो, गुरु के प्रति जिसमें सेवाभाव न हो तथा जो ईश्वर के प्रति आस्तिक बुद्धि रखनेवाला न हो।

(४) विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत्॥

अर्थ—ब्रह्मवादी वैदिक गुरु भले ही विद्या को अपने साथ लेकर मर जाय, पर घोर विपत्ति में भी इसे ऊसर में न बोये, अर्थात् अनधिकारी को विद्या न दे।

(५) एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
—मनु०

विश्व के सारे लोग आर्यावर्त की धरती पर पधारकर यहाँ के गुरुओं के शरण में अन्तेवासी बनकर शिक्षा ग्रहण करते थे तथा अपने चरित्र का सुधार करते थे।

किसी ने ठीक ही कहा है—

फिर से कहेगा जगत् एक स्वर में सारा,
वही वृद्ध भारत गुरु है हमारा।

यह आर्यावर्त देश गुरुओं, ऋषिमुनियों का देश रहा है। इसलिए इस देश को सब देशों का शिरोमणि भी कहा जाता है।

बृहदारण्यक-उपनिषद् (द्वितीय अध्याय) छठे ब्राह्मण में उल्लेख है।

(उपनिषद् की गुरु-शिष्य परम्परा)

उपनिषद् के रहस्य की परम्परा इस प्रकार चली आती है। सबसे पहले गुरु ब्रह्मा हैं। उसके बाद ब्रह्मा ने जिसे ज्ञान दिया और उसने जिसे दिया, वह परम्परा निम्न प्रकार है—

(१) प्रथम गुरु 'स्वायंभू ब्रह्मा' है, २. उसने 'परमेष्ठी ब्रह्मा' को ज्ञान दिया, फिर क्रम यों चला। ३. सनग, ४. सनातन ५. सनारु, ६. व्यष्टि, ७. विप्रचिति, ८. एकर्षि, ९. प्रध्वंसन, १०. मृत्युप्राध्वंसन, ११. अथर्वदैव, १२. दध्यङ् १३. अश्वि, १४. विश्वरूप त्वाष्ट्र, १५. आभूति त्वाष्ट्र, १६. अयास्य आंगिरस, १७. पथिसौभर, १८. वत्सनपात् बाभ्रव, १९. विदर्भी कौण्डिन्य, २०. गालव, २१. कुमारहारित, २२. कैशोर्यकाप्य, २३. शाण्डिल्य, २४. वात्स्य, २५. गौतम, २६. गौतम, २७. माण्टि, २८. आत्रे, २९. भारद्वाज, ३०. आसुरि, ३१. औपजन्धनि, ३२. त्रैवणि, ३३. आसुरायण तथा यास्क, ३४. जातकर्ण्य, ३५. पाराशर्य, ३६. पाराशर्याण, ३७. घृतकौशिक, ३८. कौशिकायनि, ३९. वैजवापायन, ४०. पाराशर्य, ४१. भारद्वाज, ४२. गौतम, ४३. भारद्वाज, ४४. पाराशर्य, ४५. सैत्तव

और प्राचीनयोग्य, ४६. गौतम, ४७. आनभिम्लात, ४८. आनभिम्लात, ४८. आनभिम्लात, ५०. आग्निवेश्यशाण्डिल्य, ५१. गौतम, ५२. शाण्डिल्य कौशिक, ५३. कौण्डिन्य, ५४. कौशिक, ५५. गौपवन, ५६. पौतिमाष्य, ५७. गौपवन, ५८, पौतिमाष्य। इस प्रकार स्वायंभू ब्रह्मा से पौतिमाष्य तक ब्रह्मविद्या की परम्परा चली आई है, ब्रह्म को नमस्कार हो॥ १-३॥

बृहदारण्यक-उपनिषद् (षष्ठ अध्याय) पाँचवा ब्राह्मण
(मातृ-सत्ताक-परिवार की वंश-परंपरा)

यह विद्या किस गुरु-शिष्य-परम्परा से आई इसका उल्लेख पहले बृहदारण्यक द्वितीय अध्याय षष्ठ ब्राह्मण तथा चतुर्थ अध्याय षष्ठ ब्राह्मण में दिया जा चुका है। यहाँ एक और परम्परा दी गई है जो पहली दोनों से भिन्न है और पिता के नाम पर चलने के स्थान पर माता के नाम पर चली है। पिता के नाम पर तो वंश-परम्परा हर जगह चलती है, माता के नाम पर चलना सिद्ध करता है कि माता का स्थान उस संस्कृति में इतने ऊँचे दर्जे का था कि उसके नाम से वंश प्रसिद्ध हो सकता था। इस प्रकरण में एक माता का नहीं, पचासों माताओं से ऋषि-मुनियों की वंश-परम्परा का उल्लेख है। समाज-शास्त्री माता के नाम से चलनेवाली इस वंश-परम्परा के आधार पर कहते हैं कि सामाजिक-विकास में एक ऐसा भी समय था जब परिवार में पिता के स्थान पर माता का स्थान मुख्य था। इस समय को वे 'मातृ-सत्ताक-परिवार' कहते हैं। वर्तमान काल में भी केरल में मातृ-सत्ताक-परिवार की प्रथा चल रही है जिसका धीरे-धीरे लोप हो रहा है। हम नीचे टिप्पणी में मातृ-सत्ताक-परिवार की इस वंश-परम्परा को दे रहे हैं।

अथ और वंशः—यह गुरु-शिष्य परम्परा है—

१. पौतिमाषी-पुत्र ने कात्यायनी-पुत्र से
२. कात्यायनी-पुत्र ने गौतमी-पुत्र से
३. गौतमी-पुत्र ने भारद्वाजी-पुत्र से
४. भारद्वाजी-पुत्र ने पाराशरी-पुत्र से
५. पाराशरी-पुत्र ने औपस्वती-पुत्र से
६. औपस्वती-पुत्र ने पाराशरी-पुत्र से
७. पाराशरी-पुत्र ने कात्यायनी-पुत्र से

८. कात्यायनी-पुत्र ने कौशिकी-पुत्र से
९. कौशिकी-पुत्र ने आलम्बी-पुत्र एवं वैयाघ्रपदी-पुत्र से
१०. वैयाघ्रपदी-पुत्र ने काण्वी-पुत्र और कापी-पुत्र से
११. कापी-पुत्र ने आत्रेयी-पुत्र से
१२. आत्रेयी-पुत्र ने गौतमी-पुत्र से
१३. गौतमी-पुत्र ने भारद्वाजी-पुत्र से
१४. भारद्वाजी-पुत्र ने पाराशरी-पुत्र से
१५. पाराशरी-पुत्र ने वात्सी-पुत्र से
१६. वात्सी-पुत्र ने पाराशरी-पुत्र से
१७. पाराशरी-पुत्र ने वार्कारुणी-पुत्र से
१८. वार्कारुणी पुत्र ने वार्कारुणी-पुत्र से
१९. वार्कारुणी-पुत्र ने आर्तभागी-पुत्र से
२०. आर्तभागी-पुत्र ने शौङ्गी-पुत्र से
२१. शौङ्गी-पुत्र ने सांकृती-पुत्र से
२२. सांकृती-पुत्र ने आलम्बायनी-पुत्र से
२३. आलम्बायनी-पुत्र ने आलम्बी-पुत्र से
२४. आलम्बी-पुत्र ने जायन्ती-पुत्र से
२५. जायन्ती-पुत्र ने माण्डूकायनी-पुत्र से
२६. माण्डूकायनी-पुत्र ने माण्डूकी-पुत्र से
२७. माण्डूकी-पुत्रं ने शाण्डिली-पुत्र से
२८. शाण्डिली-पुत्र ने राथीतरी-पुत्र से
२९. राथीतरी-पुत्र ने भालुकी-पुत्र से
३०. भालुकी-पुत्र ने (दो) क्रौञ्चिकी-पुत्रों से
३१. (दो) क्रौञ्चिकी-पुत्रों ने वैदभृती-पुत्र से
३२. वैदभृती-पुत्र ने कार्शकेयी-पुत्र से
३३. कार्शकेयी-पुत्र ने प्राचीन योगी-पुत्र से
३४. प्राचीनयोगी-पुत्र ने सांजीवी-पुत्र से
३५. सांजीवी-पुत्र ने आसुरी के वासी से
३६. प्राश्नी-पुत्र ने आसुरायण से
३७. आसुरायण-पुत्र ने आसुरी से
३८. आसुरी ने याज्ञवल्क्य से
३९. याज्ञवलक्य ने उद्दालक से

४०. उद्दालक ने अरुण से
४१. अरुण ने उपवेशि से
४२. उपवेशी ने कुश्रि से
४३. कुश्रि ने वाजश्रवस् से
४४. वाजश्रवस् ने जिह्वावान् बाध्योग से
४५. जिह्वावान् बाध्योग ने वार्षगण असित से
४६. वार्षगण असित ने हरित कश्यप से
४७. हरित कश्यप ने शिल्प कश्यप से
४८. शिल्पकश्यप ने नैध्रुवि कश्यप से
४९. नैध्रुवि कश्यप ने वाच (क्) से
५०. वाच (क्) ने अम्भिणी से
५१. अम्भिणी ने आदित्य से

आदित्यानि—आदित्य नामक ऋषि से प्राप्त; इमानि ये; शुक्लानि—शुक्ल (शुद्ध); यजूंषि—यजुः (गद्यमय मन्त्र); वाजसनेयेन—वाजसनेय; याज्ञवल्क्येन—याज्ञवल्क्य ऋषि द्वारा आख्यायन्ते—उपदेश दिये जाते हैं (व्याख्या किये गये हैं) ॥ ३ ॥ समानम्—समान ही; आसांजीवीपुत्रात्—सांजीवी—पुत्र तक (यह गुरु-शिष्य परम्परा समान है); आगे—

सांजीवी-पुत्र ने माण्डूकायनि से
माण्डूकायनि ने कौत्स से
कौत्स ने माहित्थ से
माहित्थ ने वामकक्षायण से
वामकक्षायण ने शाण्डिल्य से
शाण्डिल्य ने वात्स्य से
वात्स्य ने कुश्रि से
कुश्रि ने राजस्तम्बायन यज्ञवचस् से
राजस्तम्बायन ने
यज्ञवचस् ने कावषेय तुर से
कावषेयतुर ने प्रजापति से

प्रजापतिः—प्रजापति ने, ब्रह्मणः-ब्रह्म (ब्रह्मा) से ब्रह्म ब्रह्म तो; स्वायम्भू—स्वयम् ज्ञानमय है (आदि गुरु है); ब्रह्मणे—उस ब्रह्म को नमः—नमस्कार है ॥ ४ ॥

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास की हितकारी प्रकाशन योजना

हम लम्बे समय से अनुभव करते रहे हैं कि पुस्तकों के पाठक कम होते जा रहे हैं। इसके अनेक कारण हैं, जिनमें पुस्तकों का महँगा होना भी एक कारण है। वर्तमान में पुस्तकों के मूल्य और व्यक्ति द्वारा प्रतिदिन पढ़े जानेवाले पृष्ठों का हिसाब लगायें तो आम आदमी की आय का एक बड़ा हिस्सा इसमें व्यय हो जाये। ऐसी स्थिति में व्यक्ति पुस्तकों से दूर ही रहेगा। या फिर वह सस्ती पुस्तकें अथवा पत्रिकाएँ क्रय करेगा, जो छपती तो लाखों की संख्या में हैं, लेकिन प्रायः हित नहीं करती हैं। इस समस्या के निराकरण हेतु हमने एक हितकारी प्रकाशन योजना प्रारम्भ की है जिसके अन्तर्गत उत्तम कागज पर कम्प्यूटर द्वारा कम्पोज करवाकर ऑफसैट पर छपाई की जाकर सुन्दर सज्जा में आकर्षक व टिकाऊ आवरण-जिल्द तैयार करवा कर लागत मूल्य पर पुस्तकें सदस्यों को उपलब्ध करवाई जाएँगी।

इस योजना का सदस्यता शुल्क २५०/- (दो सौ पचास रुपये) है। यह प्रारम्भ में एक बार सदस्य को जमा कराने होते हैं। आप हमेशा इस योजना के सदस्य रहेंगे। योजना की सदस्यता समाप्त नहीं की जा सकेगी। आप इसे अपने स्थान पर किसी अन्य के नाम परिवर्तित करा सकते हैं।

इस योजना के अन्तर्गत वर्ष में दो बार में चार सौ रुपये के लगभग की पुस्तकें प्रकाशित होंगी। इन पुस्तकों का लेना सदस्यों के लिए अनिवार्य होगा।

एक सदस्य को एक पुस्तक लागत मूल्य+डाक व्यय पर प्राप्त होगी। एक सदस्य कितनी ही प्रतियों का सदस्य बन सकता है। वह जितनी प्रतियों का सदस्य बनेगा उसे उतना ही सदस्यता शुल्क जमा कराना होगा तथा उतनी ही प्रतियाँ लेनी होंगी।

पुस्तकें प्रकाशित होने पर बिना सूचना के सदस्यों को पंजीकृत डाक व कूरियर द्वारा भिजवाई जाएँगी। पुस्तक प्राप्त होने पर बीस दिन के अन्दर पुस्तकों का मूल्य+डाक या कूरियर व्यय भिजवा सकेंगे। समय से राशि नहीं भिजवाने पर अगली पुस्तकें वी०पी० द्वारा भिजवाई जाएँगी।

पुस्तकें वापिस आने पर क्षतिपूर्ति सदस्यता शुल्क से की जाएगी व सदस्यता समाप्त समझी जाएगी। यदि शुल्क में कुछ राशि बचती है तो वह वापिस नहीं होगी। क्षतिपूर्ति की राशि जमा करवाकर सदस्यता पुनः प्रारम्भ की जा सकती है।

इस योजना के अन्तर्गत समय-समय पर अन्य प्रकाशकों की पुस्तकें विशेष छूट के साथ उपलब्ध कराई जाएँगी, जिनका लेना सदस्य की इच्छा पर निर्भर करेगा।

आशा है लाभकारी योजना के आप स्वयं सदस्य बनकर अपने परिचितों को भी बनाकर विचार के इस प्रसार अभियान में हमारा उत्साहवर्धन करेंगे।
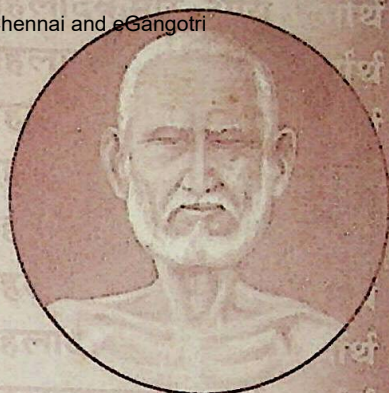
गुरुवर्य विरजानन्दजी

स्मृ० श्री घूडमल आर्य

ऋषिराज दयानन्द

स्मृ० श्री प्रहलाद आर्य

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी
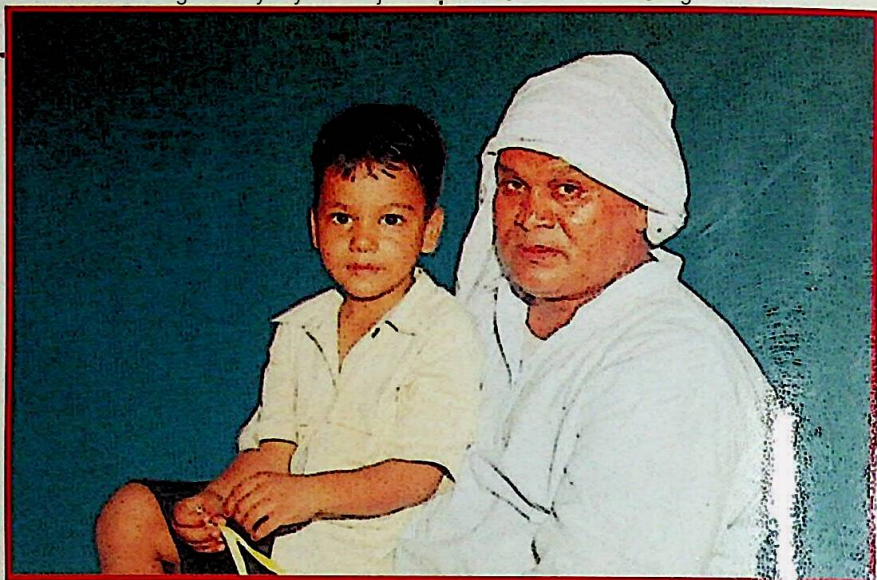
आचार्य ब्र० नन्दकिशोरजी बालक सार्थक आर्य पर स्नेहवर्षण करते हुए

आचार्य ब्र० श्री नन्दकिशोरजी विद्यावाचस्पति, एम.ए. शोधार्थी मनोवृत्ति के स्वामी हैं। आपने दुर्लभ साहित्य खोजकर संगृहीत किया हुआ है, जो समय पर जिज्ञासु लेखकों, प्रकाशकों को आप उपलब्ध करवाते रहते हैं। गौरव ग्रन्थमाला इसी शोध का परिणाम है। एक-एक विषय पर आपने सामग्री एकत्रित कर पाठकों के हितार्थ प्रकाशित की है। आर्यसमाज के सप्तखण्डीय इतिहास के लिए श्री घूडमल आर्य साहित्य सम्मान द्वारा सम्मानित डॉ० श्री सत्यकेतुजी विद्यालङ्कार को आपने बहुत-सी सामग्री उपलब्ध करवाई।

ऋषि दयानन्द द्वारा प्रचारित व प्रसारित वेदोक्त विचारधारा के जन-जन तक पहुँचाने हेतु आपका अहर्निश चिन्तन चलता रहता है। आपने कई गुरुकुलों की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान किया है और अनेक की सहायतार्थ प्रेरित करते रहते हैं। साहित्य प्रकाशन में भी आप सक्रिय हैं और आपका प्रयास है कि आर्यसमाज का साहित्य विधिवत् खण्डों में प्रकाशित हो, जिससे इसका स्वरूप व महत्व तथा उपयोगिता स्पष्ट हो सके।

नेपाल में आर्यसमाज के कार्य हेतु आपके प्रयास अनुकरणीय व श्लाघनीय हैं। हिन्दी के साथ नेपाली व मराठी भाषा के साहित्य प्रकाशन में आपका उल्लेखनीय योगदान है। बालकों, युवकों को आगे बढ़ाने व प्रोत्साहन देने में आप हमेशा तत्पर रहते हैं। सम्पूर्ण आर्यजगत् में अपनी अद्भुत क्षमताओं, लगन व कार्यशैली के कारण आप सम्मान पाते हैं।

—प्रभाकरदेव आर्य